शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

जून : १९५९ ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, ज्येष्ठ, वीर नि०सं० २४८५ ☆ अंक : २

अशुचिमय देह की पवित्रता

यह शरीर तो कच्ची मिट्टी के घड़े जैसा है। जिसप्रकार कच्ची मिट्टी के घड़े को चाहे जितना धोने पर भी उसमें से कीचड़ ही निकलता है; उसीप्रकार स्नानादि के द्वारा शरीर का चाहे जितना लालन-पालन किया जाये, तथापि वह तो अशुचि का धर है, वह तो स्वभाव से ही अशुचि का पिण्ड है। ऐसे शरीर की पवित्रता एक ही प्रकार से मानी गई है;—किसप्रकार से ?—तो कहते हैं कि जिस शरीर में पवित्र रत्नत्रयधर्म की आराधना की जाये, उस शरीर को रत्नत्रय के प्रभाव से पवित्र माना जाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय की पवित्र आराधना जिसमें वर्तती हो, वह शरीर भी पवित्र है; यद्यपि निश्चय से रत्नत्रय की ही पवित्रता है, किन्तु उसके निमित्त से देह को भी व्यवहार से पवित्र कहा जाता है।

[—द्वादशानुप्रेक्षा के प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१७०]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सस्ते में मिलेगा

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत

पंचास्तिकाय संग्रह

यानी

पंचास्तिकाय शास्त्र

इसका अक्षरशः ठीक रूप में अनुवाद प्रथम बार ही हुआ है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों को एकत्र करके पाँच साल तक उत्तम परिश्रम द्वारा-आचार्यवर श्री अमृतचन्द्र की टीका का अक्षरशः अनुवाद तैयार हुआ है, जो सर्व प्रकार उत्तम और संशोधित व संस्कृत टीका सहित है, टीका के नीचे कठिन विषयों पर अच्छा प्रकाश डालनेवाला विस्तृत फुटनोट भी दिया है, बढ़िया कागज सुन्दर छपाई और मजबूत सुन्दर बाइडिंग सहित सर्व प्रकार से मनोज्ञ और महान ग्रंथ होने पर भी मूल्य ४-५० है, पोस्टेजादि अलग (पृ० सं० ३१५) थोक लेने पर कमीशन २५) सें० देंगे।

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

[जैन-जैनेतर समाज में अवश्य प्रचार में लाने योग्य यह उत्तम साहित्य है।]

आत्मधर्म

: संपादक : **रामजी माणेकचंद दोशी** वकील

जून : १९५९ ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, ज्येष्ठ, वीर नि०सं० २४८५ ☆ अंक : २

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर
परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के
अध्यात्म भरपूर वैराग्य प्रेरक
प्रवचनों का सार

देहादिक से भिन्न चिदानन्दस्वरूप आत्मा के भानपूर्वक, बाह्य पदार्थों के ओर की प्रवृत्ति छोड़कर अंतर में स्थिर होने के लिये ज्ञानी ऐसा विचारते हैं कि—

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्॥१८॥

इन्द्रियज्ञान का व्यापार बाह्य पदार्थों में ही है; इन्द्रियज्ञान द्वारा बाह्य में जो कुछ दिखाई देता है, वह तो अचेतन है, वह किंचित् नहीं जानता। मैं उस पर राग करूँ या द्वेष, तथापि उसे कुछ भी खबर नहीं है कि यह मुझ पर राग कर रहा है या द्वेष। मेरे अभिप्राय को वह जानता ही नहीं है, तो मैं उसके साथ क्या बोलूँ? और जो ज्ञाता-जाननेवाले हैं—ऐसे अन्य जीवों का रूप तो मुझे इन्द्रियज्ञान द्वारा दिखाई नहीं देता; इसलिये बाह्य में मैं किसके साथ बोलूँ? आत्मा तो इन्द्रियों का विषय नहीं बनता और जड़-अचेतन शरीर के साथ बोलूँ, वह तो व्यर्थ की बकवाद है; इसलिये बाह्य प्रवृत्ति ही सब व्यर्थ है; अस्तु इन्द्रियों की ओर का व्यापार छोड़कर मैं अपने ज्ञान को अन्तर्मुख करता हूँ;—ऐसी भावना ज्ञानी भाते हैं। इसप्रकार बाह्य विषयों की वृत्ति छोड़कर ज्ञान को आत्मा में एकाग्र

करने में ही शांति और समाधि है। ज्ञान को बाह्य विषयों में भटकाना तो अशांति और व्यग्रता है।

एक बार दृढ़ निर्णय से अपने वेदन में ही ऐसा भासित होना चाहिये कि अरे! मुझे बाह्य वृत्ति में कहीं किसी भी विषय में रंचमात्र सुख का वेदन नहीं होता। बाह्य वृत्ति में तो मात्र आकुलता का ही वेदन होता है और अन्तरोन्मुखता में ही शांति एवं अनाकुलता है।—ऐसे निर्णय के बल से अन्तर्मुख होने पर विकल्प टूटकर अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है।

❀❀❀

[वीर सं० २४८२, ज्येष्ठ शुक्ला ९-१०]

समाधि कैसे हो अर्थात् आत्मा को शांति कैसे हो?—उसकी यह बात है। बहिर्मुखता को छोड़कर एकदम अन्तर्मुख होने की यह बात है। इन्द्रियज्ञान का व्यापार बाह्य में है और उससे तो जड़ शरीर दृष्टिगोचर होता है, उस जड़ में तो कुछ भी समझने की शक्ति नहीं है, तो मैं उसके साथ क्या बात करूँ? और सामनेवाले का अतीन्द्रिय आत्मा तो इन्द्रियज्ञान से दिखाई नहीं देता, इसलिये पर को समझाने की या पर के साथ बात करने की बाह्यवृत्ति को छोड़कर अपने आत्मा में ही अंतर्मुख होना योग्य है। मुझे तो अपने आत्मा को लक्ष में लेकर स्थिर होना है—ऐसी ज्ञानी भावना भाते हैं।

अहो! यह मेरा आत्मा तो ज्ञान ही है; ज्ञानस्वभाव से बाहर लक्ष जाकर उसे जो विकल्प उठे, वह विकल्प निरर्थक है। आत्मा तो इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है, इन्द्रियों से तो शरीर ही दृष्टिगोचर होता है; वह शरीर तो अचेतन-जड़ है; उसमें ऐसी शक्ति नहीं है कि मेरे भाव को समझ सके। मेरे भाव को जाननेवाला जो आत्मा है, वह तो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं होता; इसलिये इन्द्रियों के ओर की वृत्ति छोड़कर मैं तो स्वसन्मुख एकाग्र रहता हूँ। मेरे आत्मा के अतिरिक्त अन्य जो भी कुछ है, वह सब मुझसे बाह्य है। जब इन्द्रियों से बाह्य व्यापार होता है, तब जीव तो उससे दृष्टिगोचर नहीं होता, और जड़ दिखाई देता है, वह कुछ समझता नहीं है; तो फिर मैं किसके साथ ज्ञान को युक्त करूँ? किसके साथ बोलूँ? किसे समझाऊँ? देखो, यह भेदज्ञान! ऐसा ज्ञान करने से परोन्मुख वृत्ति टूट जाती है। ज्ञान को अंतर्मुख करके स्वसंवेदन से स्वयं अपने को जानना ही इसका अभिप्राय है। फिर भले ही बाहर वृत्ति जाने से विकल्प उठें किन्तु उसके अभिप्राय का बल तो स्वसंवेदन की ओर ही है। मेरे विकल्प से कहीं पर जीव नहीं समझते, तथा वह विकल्प मुझे अपने स्वसंवेदन में भी सहायक नहीं है;—ऐसा जानकर धर्मी अपने स्वभाव की ओर ढलता है और उसमें एकाग्र होता

है—उसका नाम समाधि है। जिसे ऐसा भेदज्ञान नहीं और ''मैं दूसरों को समझा दूँ''—ऐसे अभिप्राय का जोर है, वह कभी बहिर्मुखता छोड़कर अंतर्मुख नहीं होता और उसे राग-द्वेषरहित समाधि नहीं होती।

अरे, अपने चैतन्यस्वरूप से बाहर मैं जहाँ भी देखता हूँ, वहाँ बाह्य में तो जड़-अचेतन शरीरादि दिखाई देते हैं; वे तो मृतक हैं; उन मुर्दों के साथ मैं क्या बोलूँ? और चैतन्यस्वरूप जीव अमूर्त है, वह तो बाह्य में दृष्टिगोचर नहीं होता; जो दृष्टिगोचर नहीं होता, उसके साथ भी मैं क्या बोलूँ? यानी बाह्य में लक्ष ही करने योग्य नहीं है; मैं तो ज्ञायकस्वरूप ही हूँ और अपने ज्ञायकस्वरूप में ही मैं रहूँगा। विकल्प उठे और पर की ओर लक्ष जाये अथवा पर को समझाने की वृत्ति उठे, वह मेरा स्वरूप नहीं है; उससे मुझे लाभ नहीं है; तथा अन्य जीवों को भी वाणी से या वाणी की ओर के लक्ष से लाभ नहीं है; वे जीव भी परलक्ष छोड़कर जब अपने ज्ञायकस्वरूप की ओर उन्मुख होंगे, तभी उन्हें लाभ होगा।—ऐसा जानकर ज्ञानी अन्तरोन्मुख होते हैं।

ज्ञायकतत्त्व में से कहीं वाणी नहीं निकलती, वाणी की ध्वनि तो जड़-परमाणुओं में से उठती है। वाणी की ओर का विकल्प उठे, वह भी ज्ञायकतत्त्व में से नहीं उठता; ज्ञान परलक्ष में अटकने से विकल्प उठा है; वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वरूप का निर्णय करे तो अंतर अपूर्व शांति एवं समाधि हो ॥१८॥

बाह्य विकल्प छोड़कर, अंतर का विकल्प भी छोड़ने के लिये धर्मी विचार करता है कि—

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पः ॥१९॥

मैं उपाध्यायादि पर द्वारा प्रतिपाद्य होऊँ अर्थात् अन्य के द्वारा मैं समझूँ, अथवा मैं दूसरे को प्रतिपादन करके समझाऊँ—ऐसा जो विकल्प है, वह मेरी उन्मत्त चेष्टा है, क्योंकि वास्तव में मैं निर्विकल्प हूँ; विकल्प द्वारा या वचन द्वारा ग्राह्य हो, ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है।—इसप्रकार ज्ञानी अंतरंग विकल्पों को भी छोड़कर निर्विकल्प स्वसंवेदन में स्थिर होना चाहता है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा स्वयं, अपने से ही स्वसंवेद्य है; अपनी जागृति के बिना अन्य किसी से समझे, ऐसा नहीं है। इसलिये ज्ञातास्वभाव से बाहर वृत्ति जाये और अन्य के पास से समझने की या अन्य को समझाने की वृत्ति धर्मी को उठे, वह भी मोह की चेष्टा होने से उसे यहाँ उन्मत्त चेष्टा कहा है। 'उन्मत्त चेष्टा' का ऐसा अर्थ नहीं समझना कि उपदेश देनेवाले सभी अज्ञानी हैं।—उपदेश

की वृत्ति तो ज्ञानी को भी आती है; किन्तु उपदेश में भेद द्वारा प्रतिपादन होता है, उस भेद द्वारा अभेद आत्मा का ग्रहण नहीं होता। इसलिये भेद की वृत्ति उठे, वह उन्मत्त चेष्टा है यानी मोह का उन्माद है; वह मेरे ज्ञान का स्वरूप नहीं है। मेरे आत्मा का स्वरूप तो निर्विकल्प-अतीन्द्रियज्ञान से ग्राह्य है, विकल्प से ग्राह्य नहीं है—ऐसा जो नहीं जानता और अन्य के शब्दों से मैं समझ जाऊँ अथवा विकल्प द्वारा दूसरों को समझा दूँ—ऐसा मानता है, उसे तो मिथ्यात्व का महान उन्माद है। धर्मी जानता है कि आत्मा, वाणी या विकल्प से ग्राह्य हो, ऐसा नहीं है; वाणी में और विकल्प में तो भेद से प्रतिपादन आयेगा। 'आत्मा, दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप है'—ऐसा प्रतिपादन करे तो उसमें भी भेद है; उस भेद के लक्ष से आत्मा के निर्विकल्पस्वरूप का ग्रहण नहीं होता; इसलिये भेद का विकल्प उठे, वह भी मोह की चेष्टा है; मेरे ज्ञायकतत्त्व में उस विकल्प का प्रवेश नहीं है।

देखो, यह अंतर्मुखदृष्टि का अभिप्राय! मैं तो ज्ञायक ही हूँ; विकल्प या वाणी मेरा स्वरूप नहीं है। उपदेश की वृत्ति आये और वाणी का प्रवाह छूट रहा हो, उस समय भी ज्ञानी को ऐसे ज्ञायकतत्त्व की दृष्टि नहीं हटती। और जो विकल्प उठा है, उसे भी ज्ञानतत्त्व से भिन्न, मोह का कार्य जानते हैं—वह अस्थिरता की चेष्टा है, ऐसा जानते हैं—इसलिये उसकी दृष्टि विकल्पों पर नहीं जाती किन्तु ज्ञायकस्वभाव की ओर ही उसका जोर रहता है। इसलिये विकल्प टूटकर उन्हें स्वरूप में स्थिरतारूप समाधि होती है।

अहो, आचार्यदेव कहते हैं कि परम उपशांत चैतन्यतत्त्व के आनन्द में से बाहर निकलकर अस्थिरता में जो विकल्प उठते हैं, वह मेरी 'उन्मत्त चेष्टा' है! देखो तो सही! छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए तथा पंच परमेष्ठी पद में युक्त ऐसे श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि अरे! अपने अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन से बाहर निकलकर दूसरों को समझाने का विकल्प उठे, वह भी निरर्थक उन्मत्तवत् चेष्टा है। जिस शुभराग के विकल्प को आचार्यदेव उन्मत्त चेष्टा कहते हैं, उसी शुभराग से मूढ़-अज्ञानी जीव, संवर-निर्जरा होना मानते हैं। अरे! वीतरागी संतों ने जिसे उन्मत्त चेष्टा कहा उसे मूढ़ जीव, धर्म मानते हैं किन्तु उनकी वह मान्यता उन्मत्त जैसी है। राग और धर्म के बीच का विवेक नहीं करते, इसलिये वे उन्मत्त जैसे हैं। भगवान उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र में कहते हैं कि—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्

अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव, सत् और असत् को विशेषरूप से अपनी इच्छानुसार उन्मत्तवत् ग्रहण करता है; उसे सत्-असत् का विवेक नहीं है, इसलिये उसका ज्ञान मिथ्या है। जो जीव,

शुभराग से धर्म मानता है, वह भी राग को और धर्म को एकरूप मानता है।—इसप्रकार सत्-असत् को एकरूप मानने से वह मिथ्यादृष्टि उन्मत्त है। यहाँ तो—ऐसा मिथ्यात्व दूर होने पर भी, अस्थिरता के राग की जो चेष्टा है, वह भी निरर्थक होने से, उसे उन्मत्त चेष्टा जानकर, संत उसे छोड़कर स्वरूप में स्थिर होने की भावना भाते हैं—उसकी बात है।

❀❀❀

[वीर सं० २४८२, ज्येष्ठ शुक्ला ११]

(समाधिशतक गाथा २०)

सम्यक्त्वी अंतरात्मा स्वसंवेदन से अपने निर्विकल्प आत्मस्वरूप को कैसा जानते हैं, वह कहते हैं—

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुंचति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥२०॥

अग्राह्य ऐसे क्रोधादि विकारी भावों को अपने स्वरूप में जो ग्रहण नहीं करता और गृहीत ऐसे अपने अनंत ज्ञानादिस्वरूप को जो कभी छोड़ता नहीं है; जो सर्वथा सर्व को जानता है—ऐसा स्वसंवेद्य मैं हूँ।—ऐसा धर्मी जानता है।

मैं तो सदैव ज्ञान-दर्शन-आनन्दस्वरूप ही हूँ; शरीर-मन-वाणी-कर्म-राग-द्वेष आदि को अपने स्वरूप में मैंने कभी ग्रहण किया ही नहीं; मेरे ज्ञानस्वरूप से वे पृथक् के पृथक् हैं। मेरा सहजस्वभाव ज्ञान-आनन्दस्वरूप है, उसे मैं कभी नहीं छोड़ता; मेरा आत्मा, क्रोधादिस्वरूप नहीं है किन्तु सर्वथा सर्व का ज्ञाता ही है—ऐसा आत्मा ही मैं हूँ;—इसप्रकार अंतरात्मा अपने स्वसंवेदन से अनुभव करता है।

देखो, यह सम्यक्त्वी का आत्मा! सम्यक्त्वी अपने आत्मा को शरीररूप या रागादिरूप नहीं मानता किन्तु ज्ञायकस्वरूप-आनन्दस्वरूप ही मानता है। आत्मा, गृहीत ऐसे अपने सहज ज्ञानादिस्वरूप को नहीं छोड़ता। ज्ञानादि को 'गृहीत' कहा, इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्हें आत्मा ने नवीन ग्रहण किया है; किंतु अनादि से आत्मा उन ज्ञानादिस्वरूप ही है; उस स्वरूप से वह कभी छूटता नहीं है और क्रोधादिस्वरूप हो नहीं जाता। क्षणिकपर्याय में क्रोधादि हैं, किन्तु सम्यक्त्वी उस पर्याय जितना ही आत्मा को नहीं मानता; वह क्रोधादि को अपने स्वरूप से बाह्य जानता है और ज्ञानानन्दमयस्वभाव को ही वह अपने अंतर स्वरूप से ग्रहण करता है। श्रद्धा-ज्ञान में जिस

चिदानन्दस्वभाव को ग्रहण किया, उसे धर्मी कभी छोड़ते नहीं हैं और क्रोधादि को अपने स्वरूप में एकमेक मानकर कभी ग्रहण नहीं करते; उन्हें अपने स्वरूप से पृथक् ही जानते हैं। इसप्रकार उपयोगस्वरूप आत्मा का क्रोधादि से भिन्न अनुभव करना, सो अंतरात्मा होने का उपाय है।

मेरा आत्मा उपयोगस्वरूप है; वह उपयोग में ही है और क्रोधादि में नहीं है; तथा क्रोधादिभाव मेरे उपयोग में नहीं हैं;—ऐसा भेदज्ञान जब होता है, तब वह अंतरात्मा क्रोधादि परभावों में एकतारूप से कभी परिणमित होता ही नहीं; क्रोधादि को आत्मा के स्वरूपरूप से ग्रहण नहीं करता, और 'मैं तो ज्ञायक हूँ'—ऐसा श्रद्धा-ज्ञान में ग्रहण किया है, उसे कभी छोड़ता नहीं है, अपने आत्मा को ज्ञायकस्वरूप से ही स्वीकार करता है।

धर्मात्मा प्रमोदपूर्वक—निःशंकरूप से ऐसा जानते हैं कि अहो! मैं तो ज्ञान-आनन्दस्वरूप ही रहा हूँ, रागादि को मैंने अपने स्वरूप में कभी ग्रहण किया ही नहीं; मेरा स्वभाव कभी रागादिरूप हो नहीं गया है। ज्ञान के तथा राग के स्वाद को धर्मी भिन्न-भिन्न जानते हैं; शुद्ध ज्ञायकस्वरूप में रागादि परभावों को कभी एकरूप से स्वीकार नहीं करते। शरीर का ग्रहण-त्याग करे, कर्मों का ग्रहण-त्याग करे, अथवा रागादि का ग्रहण-त्याग करे—ऐसा आत्मा का स्वभाव है ही नहीं; आत्मा का स्वभाव तो स्वसंवेदन से ग्राह्य ऐसा ज्ञानानन्दरूप ही है। शरीरादि को मैं छोड़ूँ—ऐसा माननेवाले ने उन शरीरादि को अपने में ग्रहण किया हुआ माना है, वह विभ्रम है।

धर्मी तो जानते हैं कि हमने शरीरादि को कभी ग्रहण किया ही नहीं, जो हम उन्हें छोड़ें; तथा अपने ज्ञानादिस्वरूप को हमने कभी छोड़ा ही नहीं, जो हम उसे बाहर से ग्रहण करें। हम तो सदैव शरीरादि से भिन्न अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में ही एकमेकरूप से रहते हैं। हम सर्वथा, सर्व के ज्ञाता ही हैं।—ऐसा आत्मा स्वसंवेदनगम्य ही है। जो स्वसंवेदन से अपने ऐसे आत्मा को जानते हैं, वे अंतरात्मा हैं ॥२०॥

उपरोक्त कथनानुसार आत्मस्वरूप के ज्ञान बिना पूर्व अज्ञानदशा में मैंने कैसी चेष्टाएँ कीं—उसका धर्मी विचार करता है—

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितं।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥२१॥

जैसे—किसी पुरुष को वृक्ष के ठूँठ में ऐसी भ्रान्ति हो जाये कि 'यह पुरुष है'; और उस भ्रान्ति के कारण उसे बुलाये, उस पर क्रोध करे तथा उसे मनाये—ऐसी अनेक प्रकार की व्यर्थ

चेष्टाएं करे; उसी प्रकार मैंने भी पूर्व काल में भ्रम से इस देहरूपी ठूँठ को ही आत्मा मानकर व्यर्थ चेष्टाएँ की हैं।

जैसे—कोई पुरुष रात्रि के अंधकार में किसी मनुष्य से मिलने गया हो; वहाँ वृक्ष के ठूँठ को देखकर भ्रम से ऐसा मान ले कि यह मनुष्य ही है और फिर उसे बुलाये कि—'भाई, बोलो न! क्यों नहीं बोलते? मुझसे क्यों नाराज हो?' लेकिन ठूँठ तो बोल नहीं सकता; इसलिये क्रोध में आकर उसे ज्यों ही बाँहों में भरता है, त्यों ही खबर पड़ती है कि अरे, यह तो वृक्ष का ठूँठ है। मैंने इसे मनुष्य समझकर अभी तक चेष्टाएँ कीं। उसी प्रकार अज्ञानी जीव इस देह को ही आत्मा मान रहा है; देह तो वृक्ष के ठूँठ की भाँति जड़ है, तथापि उसी को जीव मानकर—'मैं बोलता हूँ, मैं खाता हूँ'—इसप्रकार अज्ञानी जीव व्यर्थ चेष्टाएँ करता है। धर्मी जानता है कि अरे, मैंने भी पहले अज्ञानदशा में शरीर को आत्मा मानकर उन्मत्तवत् व्यर्थ चेष्टाएँ की; अब भान हुआ कि अहो! मैं तो ज्ञानानंदस्वरूप ही हूँ; यह देह तो जड़-अचेतन है; मैं देह से अत्यन्त भिन्न ही हूँ, पूर्व काल में भी भिन्न ही था किन्तु भ्रम से उसे अपना मानकर मैंने व्यर्थ चेष्टाएँ की।

बलदेव-वासुदेव का अतिशय प्रेम होता है; जब वासुदेव की मृत्यु हो जाती, तब बलदेव अतिशय प्रेम के कारण उनके मृत शरीर को छह महीने तक साथ लेकर घूमते हैं, और मानों वे अभी जीवित हों, ऐसी चेष्टाएँ करते हैं। लक्ष्मणजी की मृत्यु हो जाने पर श्री रामचन्द्रजी उनके मृत शरीर को लेकर घूमते हैं और कहते हैं कि 'अरे भाई! अब तो बोलो, इसतरह तो तुम मुझसे कभी नहीं रूठते थे!' सबेरा होने पर कहते हैं कि 'भैया लक्ष्मण! अब तो उठो, सबेरा हो गया है; इस तरह कब तक सोते रहोगे?' इसप्रकार जिनेन्द्र भगवान की पूजा का अवसर भी निकल जाता है। फिर वे लक्ष्मणजी को स्नान कराते हैं, उनके मुँह में कौर देकर खिलाते हैं—ऐसी अनेक चेष्टाएँ करते हैं!—

(यद्यपि श्री रामचन्द्रजी तो उस समय भी आत्मज्ञानी थे; यथार्थ निश्चल श्रद्धासहित लब्धिरूप ज्ञानचेतना का सद्भाव निरन्तर था, उन्हें मात्र अस्थिरता का मोह था; आत्मा को देहादि से भिन्न ही जानते थे, इसलिये अज्ञान नहीं था; किंतु यहाँ तो दृष्टान्तरूप से यह सब कहा है।) उसी प्रकार यह शरीर तो सदैव जड़ मृत कलेवर है; किन्तु अज्ञानी जीव, मोह के वश—'यह शरीर ही मैं हूँ'—ऐसा मानकर चेष्टाएँ करता है। अज्ञानी जीव इस जड़ देहरूपी मुर्दे को जीवित मानकर (यानी उसी को आत्मा मानकर) अनन्त काल से उसे साथ लेकर भटक रहा है; मृत कलेवर में चैतन्यभगवान मूर्च्छित हो गया है। देह की चेष्टाओं से जो अपने को सुखी-दुःखी मानते हैं, देह की

क्रिया मैं करता हूँ तथा उसके द्वारा धर्मसाधन होता है—ऐसा मानते हैं, वे सब शरीर को ही आत्मा माननेवाले हैं; वे अपने श्रद्धा-ज्ञानरूपी कंधे पर जड़ मुर्दे को रखकर संसार में भटक रहे हैं। रामचन्द्रजी तो लक्ष्मण का मृत शरीर कंधे पर लेकर घूमते थे, तब भी अंतर के श्रद्धा-ज्ञान में अपने चिदानन्दस्वभाव का ही ग्रहण था। राग का या देहादि का किंचित् ग्रहण नहीं था। जीव को स्वयं खबर नहीं है कि—अज्ञानदशा में चैतन्यतत्त्व को चूककर भ्रम से वह कैसी-कैसी व्यर्थ चेष्टाएँ कर रहा है। जब उसे ज्ञान होता है, तब खबर पड़ती है कि अरे! पूर्व अज्ञानदशा में मैंने कैसी व्यर्थ चेष्टाएँ की हैं! ॥२१॥ ●

ढाई द्वीप की यात्रा

[शांतिनाथ भगवान के पूर्वजन्म का एक प्रसंग]

[सोलहवें तीर्थंकर भगवान श्री शांतिनाथ स्वामी पूर्व सातवें भव में विदेहक्षेत्र में अपराजित नाम के बलभद्र हुए थे... तत्पश्चात् पूर्व पाँचवें भव में विदेहक्षेत्र के रत्नसंचयनगर में श्री क्षेमंकर तीर्थंकर के पुत्र वज्रायुध चक्रवर्ती हुए थे। उस समय इन्द्रसभा में उनके विशुद्ध सम्यग्दर्शन की प्रशंसा होने पर एक मिथ्यादृष्टि देव उनकी परीक्षा करने आया, और उनकी वज्रवाणी सुनकर वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुआ; तत्पश्चात् पूर्व तीसरे भव में वे (शांतिनाथ भगवान का जीव) विदेहक्षेत्र में घनरथ तीर्थंकर के पुत्र मेघरथ हुए थे। उन मेघरथ के भव का यह प्रसंग है।]

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में पुष्कलावती देश है; उसकी पुण्डरीकिणी नगरी में घनरथ नाम के राजा राज्य करते थे, जो तीर्थंकर थे; उनकी मनोहरा रानी के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम मेघरथ रखा गया।

एक बार घनरथ राजा अपने पुत्र-पौत्रों सहित सिंहासन पर बैठे थे। वहाँ एक दासी 'घनतुंड' नाम का कुक्कुट (मुर्गा) लाई और कहने लगी कि अगर किसी का कुक्कुट इसे हरा दे तो मैं एक हजार इनाम में दूँ। यह सुनकर दूसरी दासी वज्रतुंड नाम का मुर्गा ले आई और दोनों में युद्ध होने लगा।

वह युद्ध दोनों कुक्कुटों के लिये दु:खदायी था; तथा देखनेवालों को भी हिंसानन्द आदि रौद्रध्यान का कारण था; इसलिये ऐसा सोचकर, कि धर्मात्माओं को वह देखना योग्य नहीं है, घनरथ राजा ने अनेक भव्य जीवों को शांति प्राप्त कराने तथा अपने पुत्र की महिमा प्रसिद्ध करने के लिये, मेघरथकुमार से पूछा कि—'हे कुमार! इन कुक्कुटों में इतना अधिक बल कहाँ से आया?'

घनरथ राजा के पूछने पर, विशुद्ध अवधिज्ञान नेत्र धारक मेघरथकुमार उन दोनों कुक्कुटों के—युद्ध के कारणरूप-पूर्व भवों का वर्णन करने लगे।—

कुछ भवों पूर्व यह दोनों कुक्कुट भद्र और धन्य नाम के दो सगे भाई थे और गाड़ी चलाने का कार्य करते थे। एकबार बैल के निमित्त से परस्पर लड़ते-लड़ते दोनों मर गये और जंगली हाथी हुए। वहाँ भी पूर्वभव के बैर से दोनों लड़कर मर गये और भैंसा हुए; वहाँ भी लड़ते-लड़ते मर गये और मेंढा हुए; वहाँ भी लड़-लड़कर मरे और कुक्कुट हुए हैं। यहाँ छिपे हुए दो विद्याधर इन्हें विद्या के बल से लड़ा रहे हैं।

वे दो विद्याधर कौन हैं और यहाँ किसलिये आये हैं? यह जानना चाहते हो तो सुनो।—ऐसा कहकर मेघरथकुमार उन विद्याधरों की कथा सुनाने लगे—

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में वियार्द्धपर्वत की उत्तर श्रेणी पर एक कनकपुर नाम का नगर है; उसमें गरुड़वेग नाम के विद्याधर राजा के दिवितिलक और चन्द्रतिलक नाम के दो पुत्र हैं। वे दोनों पुत्र एक दिन सिद्धकूट पर विराजमान दो चारण मुनियों के पास पहुँचे और भक्तिपूर्वक विनय से अपने पूर्वभव का सम्बन्ध पूछा। बड़े मुनिराज उनके पूर्व भवों का इसप्रकार वर्णन करने लगे—"धातकीखण्ड नाम का एक दूसरा द्वीप है, उसके पूर्व भाग में ऐरावतक्षेत्र में तिलकनगर है, उसके राजा अभयघोष थे; वे पूर्वभव में तुम्हारे पिता थे और तुम दोनों विजय तथा जयंत नाम के उनके पुत्र थे। एकबार अभयघोष राजा ने दमवर नाम के मुनिराज को भक्तिपूर्वक आहारदान दिया और पंचाश्चर्य हुए। एकबार दोनों पुत्रों के साथ वे राजा श्री अनन्त स्वामी गुरु के निकट गये और वहाँ बोधि को प्राप्त होकर तीनों ने महाव्रत अंगीकार किये, तथा सोलहकारणभावनाओं के चिंतन द्वारा श्री अभयघोष मुनिराज ने तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया और अनुक्रम से समाधिमरण करके दोनों पुत्रों सहित वे अच्युत स्वर्ग में उत्पन्न हुए; उस स्वर्ग में से तुम दोनों (जयंत व विजयकुमार) यहाँ विद्याधर के रूप में उत्पन्न हुए हो।"

यह सुनकर वे दोनों विद्याधर पूछने लगे कि—'हे भगवान! हमारे पूर्वभव के पिता कहाँ हैं?' श्री मुनिराज ने कहा 'हे कुमारों! तुम्हारे पिता अच्युत स्वर्ग से चयकर विदेहक्षेत्र में घनरथ

तीर्थंकर के रूप में उत्पन्न हुए हैं और इससमय पुण्डरीकिणी नगरी में मेघरथ आदि पुत्रों सहित कुक्कुटों का युद्ध देख रहे हैं।'

मुनिराज के श्रीमुख से यह बात सुनकर वे दोनों विद्याधर आपके प्रति प्रेम के कारण यहाँ आपके दर्शन करने आये हैं.... इसप्रकार मेघरथकुमार ने विद्याधरों के आगमन का वृत्तान्त कहा।

मेघरथकुमार के मुँह से सब वृत्तान्त सुनकर उन दोनों विद्याधरों ने अपना रूप प्रगट किया और राजा घनरथ तथा कुमार मेघरथ का पूजन-बहुमान करने लगे। तत्पश्चात् वैराग्य प्राप्त करके उन्होंने गोवर्द्धन मुनिराज के निकट दीक्षा धारण कर ली।

वे दोनों कुक्कुट भी अपने पूर्वभव का सम्बन्ध जानकर परस्पर बैर को भूल गये और अन्त में साहसपूर्वक संन्यास धारण कर लिया। आयु पूर्ण होने पर वे स्वर्ग में ताम्रचूल तथा कनकचूल नाम के देव हुए। तुरन्त ही वे दोनों पुण्डरीकिणी नगरी में आये और मेघरथकुमार का अत्यन्त प्रेमपूर्वक सन्मान करके अपने पूर्व जन्मों का सम्बन्ध स्पष्टरूप से कहा। अन्त में वे बोले कि—हे कुमार! आपकी ही कृपा का फल है कि हमें कुक्कुट जैसी तिर्यंचगति से देवगति प्राप्त हुई.... आप हमारे साथ विमान में चलकर मानुषोत्तर पर्वत स्थित जिनालयों की वन्दना कीजिये.... ताकि हम आपके उपकार का कम से कम भी बदला दे सकें। (मानुषोत्तर पर्वत में ढाई द्वीप स्थित हैं और वहीं तक मनुष्यों का गमन हो सकता है; इसलिये देवों ने ढाई द्वीप की यात्रा की बात कही।)

मेघरथकुमार की सम्मति प्राप्त होते ही उन देवों ने अनेक त्रद्धियुक्त विमान में मेघरथकुमार को सपरिवार बिठाया और अनेक देश-देशान्तर तथा जिनालय बताते हुए आकाश में विचरने लगे। वे मेघरथकुमार को बतला रहे थे कि देखिये, यह भरतक्षेत्र है, यह हस्तिनापुरी नगरी है.... तीसरे भव में जब आप तीर्थंकर होंगे, तब आपके जन्म से यह नगरी पावन होगी... और यह देखिये, यह जो ऊँचा पर्वत दिखाई दे रहा है, यह भरतक्षेत्र की शाश्वत् निर्वाणभूमि सम्मेदशिखर है... यह हैमवत क्षेत्र है... यह हरिवर्ष है... यह विदेह है... यह रम्यक् है... यह हैरण्यवत् है... यह ऐरवत् है... यह हिमवान आदि सात कुलाचल पर्वत हैं.... उनके बीचोंबीच सबसे ऊँचा महामेरु है जो अनेक शाश्वत् जिनमन्दिरों से शोभायमान है.... इसप्रकार देव सब कुछ बतला रहे हैं और मेघरथकुमार प्रसन्नतापूर्वक जिनमन्दिरादि के दर्शन करते जा रहे हैं.... देखिये, यह श्री-ह्री आदि देवियों के निवासस्थान हैं। और इधर देखिये, यह चित्रकूट, अंजन आदि सोलह वक्षारपर्वत हैं जो अत्यन्त दर्शनीय हैं; इन पर रत्नमय जिनबिम्ब तथा जिनमन्दिर हैं। यह विद्युत्प्रभ आदि चार गजदंत पर्वत हैं। यह सब पर्वत तथा इन पर स्थित जिनालय उत्पत्ति-विनाश रहित अनादि-अनंत शाश्वत्

हैं। हे कुमार! यह देखिये, यह कच्छा... सुकच्छा... पुष्कलावती आदि विदेहक्षेत्र के बत्तीस देश स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं... और यह क्षेमा... क्षेमपुरी... पुण्डरीकिणी... अयोध्या आदि उन देशों की राजधानियाँ हैं... यह हमारे (व्यंतर देवों के) निवासस्थान हैं... इसप्रकार जम्बूद्वीप के समस्त स्थान दिखलाकर फिर लवणसमुद्र को पार किया और दूसरे धातकी खण्डद्वीप में आये.... वहाँ के दो मेरुपर्वत, वहाँ विराजमान अनेक तीर्थंकर तथा जिनमन्दिरादि के दर्शन कराते हुए फिर कालोदधि समुद्र को पार किया और तीसरे पुष्कर द्वीप में आये। वहाँ भी दो मेरुपर्वत, अनेक जिनमन्दिर, अनेक तीर्थंकरादि के दर्शन कराये और अन्त में मानुषोत्तर पर्वत तथा उस पर स्थित चार शाश्वत जिनालय भी मेघरथकुमार को दिखलाये.... ॥

इसप्रकार मानुषोत्तर पर्वत तक के-ढाई द्वीप के समस्त स्थानों की यात्रा करके मेघरथकुमार खूब प्रसन्न हुए... अत्यन्त प्रीति पूर्वक उन्होंने अकृत्रिम जिनालयों की पूजा की... भावपूर्ण स्तुति की और महान उत्सवपूर्वक अपनी पुण्डरीकिणी नगरी में प्रवेश किया... वहाँ उनका सन्मान करके देव अपने स्थान पर चले गये।

जय हो ढाई द्वीप की यात्रा की!....

नमस्कार हो ढाई द्वीप के जिनवैभव को!

[तीर्थधाम सोनगढ़ में सीमंधर भगवान का अतिभव्य, उन्नत एवं सुशोभित जिनमन्दिर, चारों ओर की दीवारों पर अंकित ऐतिहासिक चित्रों के वैभव से भक्तजनों के चित्त को आकर्षित कर रहा है। दीवारों पर तीर्थंकरों के पूर्वभव के प्रसंग, तीर्थधाम एवं मुनिवरों के भक्तिभरे चित्र हैं। उन्हीं में से एक चित्र की कथा यहाँ दी गई है.... अन्य चित्रों का परिचय क्रमशः देते रहेंगे।]

'अब हमारा मन अन्यत्र कहीं नहीं लगता'

नियमसार के १३० वें कलश में श्री पद्मप्रभ मुनिराज कहते हैं:—

जिसप्रकार अमृत भोजन का स्वाद चखने के बाद देवों का मन अन्य भोजन में नहीं लगता, उसीप्रकार ज्ञानात्मक सौख्य को जानकर हमारा मन उस सौख्य के निधान चैतन्य मात्र चिन्तामणि के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं लगता।

भारत-अभिनंदनीय गुरुदेव को अभिनंदन

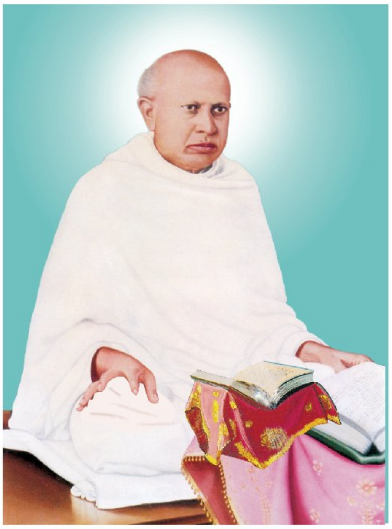

हे जिनेन्द्र के पवित्र शासन के प्रभावी संत! आपश्री के धन्य अवतार का ७० वां जन्मोत्सव जयंति प्रसंग पर आत्मिक उमंग की भावनापूर्वक आपका अभिनंदन करते हैं, आपश्री का मंगलमय जन्म भारतभर के तत्त्व-जिज्ञासु जीवों को आत्महित के लिये अपूर्व जागृति का कारण बना है... इस वर्ष का आपका जन्मोत्सव तीर्थयात्रा करते-करते बीच में-फतेहपुर (गुजरात) में-मनाया जा रहा है... तीर्थस्वरूप जो रत्नत्रयमार्ग, उसके आप प्रवासी हैं.... भारत के अनेक तीर्थधामों की यात्रा में रत्नत्रयस्वरूप तीर्थ की आपने बहुत बड़ी प्रभावना की है; लाखों जिज्ञासुओं ने परम हर्ष और भक्तिपूर्वक आपका दर्शन करके आपका उपकार मानकर आपको अभिनंदे हैं... भारत के कोने-कोने से हजारों लाखों जनों ने अभिनंदन देकर आपश्री को भारत-अभिनंदनीय, बनाया है... इस जन्मोत्सव के मंगल प्रसंग पर हम उसी में भक्तिपूर्वक सुर (-स्वर) मिलाकर आपश्री का अभिनंदन करते हैं...

तीर्थस्वरूप हे मंगलमूर्ति गुरुदेव!

जिस प्रकार भारत भर के तीर्थधामों की अति उत्साह भरी यात्रा करके आपने हमको आनन्दित बनाया, उसीप्रकार रत्नत्रयात्मक तीर्थधाम की यात्रा करके आप हमको अतीन्द्रिय आनन्दरूप बनावें और आपके साथ साथ, साक्षात् सिद्धिधाम की यात्रा करायें। [वैशाख सुदी २]

दक्षिण जैन तीर्थक्षेत्र यात्रा समाचार

लेखांक - दूसरा

हूमच—

यहाँ पाँच जिनमंदिर हैं। सरोवर के किनारे पर पंच बसति मन्दिर बहुत प्राचीन और बढ़िया है, उसमें पाँच वेदी में विशाल जिन प्रतिमा विराजमान हैं। मन्दिर का शान्त वातावरण मुनिवरों की शान्ति की झांकी कराता है। यहाँ प्राचीन प्रतिमाओं का दर्शन करके गुरुदेव बड़ी प्रसन्नता से कहते थे कि देखो!! यह हजारों वर्ष प्राचीन प्रतिमा! वह दिगम्बर जैन धर्म की प्राचीनता को सिद्ध कर रही है। यहाँ प्राचीन शिलालेख बहुत विस्तृत हैं।

बड़े मन्दिर में गुरुदेव ने 'उपशमरस बरसे रे प्रभु थारा नयन में...' यह स्तवन गाया था। भक्ति के बाद भट्टारकजी ने करीब २० मणि रत्नों के जिनबिंब के दर्शन कराये थे। दर्शन से गुरुदेव को तथा सर्व यात्रियों को बहुत आनन्द हुआ, और-२४ जिन भगवान के सामने सभी ने अर्घ चढ़ाया था। और उस दिन गुरुदेव के प्रवचन का कार्यक्रम नहीं था, किन्तु वहाँ स्थित भट्टारकजी देवेन्द्र कीर्ति ने खास अनुरोध तथा प्रेम पूर्वक कहा कि इतने दूर से आप जैसे इतने बड़े विद्वान हमारे यहाँ आये और कुछ भी नहीं बोलेंगे? अवश्य कुछ प्रवचन कीजियेगा... हम आपकी वाणी सुनना चाहते हैं। गुरुदेव ने कहा कि यहाँ तो कानडी भाषा है, कौन समझेंगे? भट्टारकजी ने कहा—हम सुननेवाले हैं। फिर प्रवचन हुआ। उसे सुनकर भट्टारकजी आदि ने बहुत प्रसन्नता व्यक्त की थी। सागर आदि गाँवों से श्वेताम्बरी भाई भी आये थे। यहाँ पहाड़ पर बहुत प्राचीन जीर्ण मन्दिर है। उसमें श्री बाहुबली की प्रतिमा है। सभी ने पहाड़ पर जाकर गुरुदेव के साथ अर्घ चढ़ाया था। पहाड़ का दृश्य बड़ा सुन्दर है। भट्टारकजी ने सभी के लिए उत्तम व्यवस्था की थी।

यहाँ से यात्रा का प्रोग्राम श्री कुन्दकुन्दाचार्य का तपोवन और समाधि स्थान जाने का था। प्रथम पू० गुरुदेव कुन्दापुर पहुँच गये थे। वहाँ श्री शंकरराव गोड़े ने बहुत सन्मान करके अपने बंगले में ठहराया और यात्री संघ की व्यवस्था अच्छी तरह की थी।

कुंदाद्रि (कुन्दगिरि) की यात्रा

हुबली से हुमच बाद तीर्थहली है, वहाँ से आगम वे के रास्ते के बीच में कुंदगिरि जाने का रास्ता है। फाल्गुनबदी ३ को सवेरे श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रभु के पवित्र चरणों को भेंटने के लिये गुरुदेव ने ७५० यात्रियों के साथ कुन्दकुन्द-पर्वत की यात्रा शुरु की....। कुन्दकुन्दाचार्य देव जिस

भूमि में विहार करते थे। सतत ज्ञान ध्यान तप में लीन होकर अतीन्द्रिय आत्मिक आनन्द में लीन रहते थे, उस पवित्र भूमि में दर्शनार्थ चलते-चलते गुरुदेव को बहुत प्रमोद भाव और भक्ति उल्लसित हो रही थी। कुन्द प्रभु की उस परम महिमा को याद करते-करते बड़े उत्साहपूर्वक कुन्द प्रभु के समाधि स्थान पहुँच गये।

गीच गाढ़ वृक्षों के झुंडों से घिरा हुआ यह पहाड़ जितना बड़ा पवित्र माना जाता है, उतना ही सुन्दर एवं महामनोज्ञ है। ऊपर असंख्य पुष्पों से लदे हुए चंपक वृक्ष भी बहुत हैं। प्राचीन मानस्तम्भ, मन्दिर तथा शिलालेख हैं। मन्दिर में श्री पार्श्वनाथ आदि भगवन्त बिराजमान हैं। बाहर भी शान्त भाववाहिनी बड़ी प्रतिमाजी हैं, बगल में सुन्दर कुण्ड है, ऊपर भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव की अति प्राचीन चरण पादुका कमल के ऊपर मूल से ही खुदे हुए हैं। लेख भी हैं, और भाववाही है। अगल-बगल के दृश्य बड़े सुहावने महामनोज्ञ और भाववाही हैं। यहाँ पू० गुरुदेव को बड़ा भारी भक्तिभाव उमड़ रहा था, सभी यात्रियों के लिए अपूर्व धन्य घड़ी थे... गुरुदेव ने कुन्दकुन्द प्रभु के चरणों का भक्तिपूर्वक अभिषेक किया, पूजन करके अर्घ चढ़ाया और भक्तिभाव से भीगे हुए परम प्रसन्न चित्त होकर आपने कुन्दकुन्दाचार्यदेव की भक्ति कराई थी... बहिनजी ने भी यहाँ बड़े भारी उत्साह से अपूर्व भक्ति के रस पूर्ण भक्ति कराई थी।

हुमच के भट्टारकजी भी साथ में थे

गुरुदेव के साथ कुन्दकुन्द प्रभु के इस पावन धाम की यात्रा से भक्तों को बड़ा भारी आनन्द और उत्साह उछल रहा था, और गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के साथ यह महान ऐतिहासिक यात्रा के नित्य स्मरणार्थ इस यात्रा धाम में कुछ योग्य स्मारक बनाने के लिये करीब १२०००) का चन्दा हुआ, उसमें ५००१) सोनगढ़-जैन स्वा० मन्दिर ट्रस्ट में से पूज्य बहिनजी की भावनानुसार दिये थे।

यात्रा के बाद नीचे गोड़ेजी के बंगले पर विशाल पंडाल में सभी का भोजन हुआ, बाद में गोड़ेजी और हुमच के भट्टारकजी श्री देवेन्द्रकीर्तिजी ने खास विनती की, इसलिये गुरुदेव ने आधा घण्टा सभा में प्रवचन किया जिसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रभु का अलौकिक परम महिमा और आदरभाव भारी भक्तिसह प्रगट किया। बाद में भट्टारकजी ने आभार मानकर गुरुदेव के सामने भारी धर्म प्रेम व्यक्त किया, और स्थानीय कार्यकर्ताओं की ओर से गुरुदेव का स्वागत, अभिनन्दन बहुत वात्सल्य भाव से आर्द्र होकर प्रसंगोचित वक्तव्य द्वारा किया। बाद में गुरुदेव तथा यात्री संघ का मूडबिद्री की ओर प्रस्थान हुआ। रास्ते में सुन्दर बड़े-बड़े पहाड़ी घाट, गींच झाड़ियों के रमणीय दृश्य आते हैं। बड़े-बड़े ऊँचे पहाड़, ऊँचे नीचे-चढ़ाव, ऊपर से पानी के झरने और घने जंगलों के

शान्त रमणीय वातावरण, वनवासी मुनिवरों की अनुपम शान्त परिणति की याद दिला रहे थे। रात्रि को मूडबिद्री पहुँचे। यहाँ रत्न प्रतिमाओं के दर्शन करने की धुन में सोये हुए भक्तों को स्वप्न में भी रत्नमय जिनबिंब दिख रहे थे।

मुडबिद्री में रत्नप्रतिमा दर्शन

(फाल्गुन वदी ४)

इस रत्नमय जिनेश्वरों के तीर्थधाम में आते ही भक्तों को आनन्द हुआ। सबेरे भक्तों सहित, अनेक बाजे बज रहे थे, ऐसे भव्य उत्सवपूर्वक, गुरुदेव ने यहाँ के जिनमन्दिरों में जाकर दर्शन किये। यहाँ १०००स्तम्भवाला प्रसिद्ध त्रिभुवन तिलक चूड़ामणि जिन मन्दिर, तीन मंजिलवाला है। अति भव्य और प्राचीन है। नीचे चन्द्रप्रभु भगवान की १० फुट ऊँचाई की भव्य प्रतिमाजी है। और बड़ी संख्या में धातु प्रतिमा हैं। ऊपर तीसरे भवन में रत्न तथा स्फटिकादि के जिनबिंब का दरबार है। यहाँ कुल मिलकर १८ मन्दिर हैं। मानस्तम्भ भी है। सभी का दर्शन-पूजन किया। दुपहर में सिद्धान्त बस्तिनामक जिनमन्दिर में अनर्ध रत्नमय जिनबिम्बों के दर्शन के लिये गुरुदेव तथा यात्रिगण आये, शुरु में जिनवाणीमाता (ताडपत्र में लिखित अति प्राचीन धवल-महाधवलादि सिद्धान्त ग्रंथ) का दर्शन कराया। बाद क्रमसर ३५ विविध प्रकार के रत्नमणि के महामूल्यवान जिनबिम्बों का दर्शन कराया, और अन्त में समग्र जिनबिम्ब का दरबार (-समवसरण) दिखाया...। गुरुदेव के साथ इन जिनबिम्बों के दर्शन से भक्तों को बड़ा भारी हर्ष हो रहा था। गुरुदेव भी इन दर्शनों से काफी प्रसन्नता में थे। बाद दूसरी बारी में भी दर्शन करने बैठे थे। बाद २४ भगवन्तों का पूजन तथा भक्ति का शानदार प्रोग्राम हुआ। यहाँ तीन दिन रहे।—रात्रि में त्रि० ति-चूड़ामणि जिनमन्दिर में भक्ति का प्रोग्राम था। वहाँ हजारों दीपकों की कलामय रचना के बीच में चन्द्रप्रभु भगवान दर्शन में अद्‌भुत दिख रहे थे। यहाँ भी करीब दस हजार का दान हुआ।

कारकल:—

यहाँ पहाड़ी पर ४० फुट की बाहुबली प्रभु की सुन्दर प्रतिमा है। वहाँ पूजन भक्ति करके अनेक जिन मन्दिर तथा मानस्तम्भ के दर्शन किये। बाद भुजबली ब्रह्मचर्याश्रम में गुरुदेव का प्रवचन तथा स्वागत समारोह था। दि० जैन समाज ने बहुत प्रेम दिखाया।

वेणूर तथा हेलीबीड—

वेणूर में ३५ फुट के बाहुबली भगवान के दर्शन करके हेलीबीड आये। यहाँ उत्तम प्राचीन कलामय बड़ी अवगाहनावाले प्राचीन प्रतिमाजी हैं। जिन मन्दिर में कसौटी के पाषाण स्तम्भ में

अद्‌भुत नक्कासी का काम है। भगवान शान्तिनाथ तथा श्री पार्श्वनाथ प्रभु का दर्शन करके हासन शहर में पहुँचे। यहाँ, जैन समाज ने बड़ी भारी तैयारी करके अतिशय उमंग से गुरुदेव का स्वागत किया और भारी अनुरोधवश गुरुदेव को वहाँ ही ठहरना पड़ा। बाद संघ-श्रवणबेलगोला गया।

बाहुबली भगवान की यात्रा का मुख्य धाम श्रवणबेलगोल

फाल्गुन वदी ९ सबेरे संघ सहित इन्द्रगिरि पर्वत पर आये। बहुत ही रमणीक इस पर्वत पर १५ मिनिट में पहुँचे गये। दिव्य, भव्य, अति सुन्दर सर्वोत्तम कलाकृति का अनुपम प्रतीक ५७ फुट की बाहुबलीनाथ की प्रतिमा को बड़ी प्रसन्नतापूर्वक निरखते ही गुरुदेव आश्चर्य और भक्ति से स्थिर हो गये। बहुत भावपूर्वक बारम्बार उस वीतरागी नाथ का अवलोकन किया। धीरे-धीरे वैरागी अडिग साधक बाहुबलीनाथ का दर्शन कर करके बहुत आनन्द व्यक्त किया। परस्पर सभी को प्रसन्नता का उत्साह दिख रहा था, जो देखते ही बनता था, जिसका वर्णन क्या किया जाय!!

प्रथम बाहुबली प्रभु का पूजन हुआ। बाद पू० गुरुदेव ने ऐसे ऋषभनन्दन देखे वन में... इत्यादि भक्ति कराई। बाद पू० बहिनजी ने भी भक्ति कराई 'जेनी मुद्रा जोतां आत्मस्वरूप लखाय छे रे... ॥' आदि अनेक विध भक्ति से भरपूर उद्‌गार निकलते थे।

कई भक्तगण टकटकी लगाकर घण्टे भर तक इस अद्‌भुत पवित्रता के दिव्य पिंडरूप बाहुबली जिन को देखते ही रहते थे। इसप्रकार बहुत आनन्द, उल्हास, महिमा, प्रसन्नता और भक्तिभावपूर्वक श्रवणबेलगोल में बाहुबली भगवान की यात्रा करके संघसहित गुरुदेव नीचे पधारे। बाहुबली नाथ की भव्य यात्रा करानेवाले गुरुदेव को नमस्कार हो।

दुपहर को प्रवचन के समय भी गुरुदेव बाहुबली भगवान की महिमा का वर्णन करते-करते प्रसन्नता व्यक्त कर रहे थे। रात्रि को २४ जिनेश्वरों की भक्ति मन्दिरजी में हुई थी।

चन्द्रगिर की यात्रा

फा० वदी १० पू० गुरुदेव आज दूसरी पहाड़ी चन्द्रगिरी की यात्रा के लिये संघ सहित पधारे। यहाँ १४ प्राचीन जिन मन्दिर हैं। अति महत्त्व के प्राचीन शिलालेख बड़ी संख्या में हैं। अन्तिम श्रुतकेवलि श्री भद्रबाहु स्वामी की गुफा तथा समाधिमरण के स्थान पर चरणपादुकाजी हैं।

चन्द्रगिरी पर ५०० मुनियों का समाधि स्थान है। यहाँ पार्श्व प्रभु की बहुत बड़ी अवगाहनावाली प्रतिमा है। चामुंडराय के मन्दिर में श्री भद्रबाहु तथा चन्द्रगुप्त के जीवन प्रसंग प्राचीन कला में खुदे हुए हैं। यह मन्दिर यहाँ सबसे प्राचीन है। श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने

गोमट्टसारजी की रचना इस मन्दिर में की थी। इस मन्दिर में दर्शन पूजन के बाद शान्तिनाथ प्रभु (१५ फुट) के सन्मुख पूजन व भक्ति की।

यहाँ प्राचीन शिलालेख बहुत हैं। उसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य का अति आदर सन्मानपूर्वक उल्लेख है। एक शिलालेख में 'तात्कालीन अशेष तत्त्वों का ज्ञाता' कहा है। और वन्द्यो विभुर्भ्भुविन कैरिह कौण्ड कुंद:कुन्दप्रभा-प्रणयि कीर्ति-विभूषिताश:। यश्चारु-चारण-करामबुज चञ्चरीक श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयत: प्रतिष्ठाम्॥' और चारणऋद्धि द्वारा आकाश में गमन करते थे। यह लेख श्री पार्श्वनाथ प्रभु के मन्दिर में बायें हाथ पर है। उसका बहुत भक्तिभाव पूर्वक गुरुदेव ने और भक्तों ने अवलोकन किया। लेख श्री जिनदास शास्त्री ने पढ़कर समझाया था। बाद श्रुतकेवलि श्री भद्रबाहुस्वामी की गुफा देखी। उसमें उनका प्राचीन चरण कमल है, वहाँ दर्शन करके अर्घ चढ़ाया। बाद बगल में नीचे जिननाथपुर छोटा गांव है, वहाँ दो मन्दिर प्राचीन और जीर्ण हैं। तालाब के पास मन्दिर बड़ा है, वहाँ श्री पार्श्वनाथ प्रभु की मनोज्ञ प्रतिमा है। जिसका फोटो सामने रखकर पूज्य कानजी स्वामी ने विक्रम सं० १९९१ में सोनगढ़ में परिवर्तन किया था। श्रवण बेलगोल गाँव में पाँच मन्दिर हैं। अक्कन बसती-मन्दिर में कसोटी के पाषाण के स्तम्भ में सुंदर नक्काशी का काम देखकर जैन धर्म का प्राचीन वैभव का ख्याल आता है। क्रमश:

****

''बुद्धि की रक्षा''

राज्यसभा में राजाओं को बुद्धि की रक्षा का उपदेश देते हुए भरत चक्रवर्ती कहते हैं कि—

इहलोक तथा परलोक सम्बन्धी पदार्थों में हित-अहित का ज्ञान होना, सो 'बुद्धि' है। उस बुद्धि का पालन अर्थात् रक्षण किसप्रकार हो सकता है?—वह यदि जानना चाहते हो तो उसका उत्तर यह है कि—अविद्या का नाश करने से ही उस बुद्धि की रक्षा हो सकती है। मिथ्याज्ञान को अविद्या कहते हैं और अतत्त्वों में तत्त्वबुद्धि होना, सो मिथ्याज्ञान है। अरहंतदेव कथित ही तत्त्व हैं, और अरिहंत वे ही हो सकते हैं कि जिन्होंने दोष एवं आवरणों का क्षय किया हो। इसलिये, अपने मन का मैल (बुद्धि का दोष) दूर करने के लिये अरिहंतदेव के मत का अभ्यास करना चाहिये।

जिनेन्द्रदेव-कथित मार्ग ही संसार-समुद्र से पार होने का उपाय है।

(—महापुराण, सर्ग: ४२)

****

जीवास्तिकाय का व्याख्यान

[वीर सं० २४८३, अषाढ़ कृष्ण १० से १३ तक के प्रवचनों से]

श्री पंचास्तिकाय शास्त्र की २६ गाथाओं तक पीठिका है; उसमें जीवादि छह द्रव्य तथा पाँच अस्तिकाय का सामान्य वर्णन किया। अब २७ वीं गाथा से उस प्रत्येक द्रव्य का विशेष वर्णन करते हैं। उसमें प्रथम जीवद्रव्य का विशेष व्याख्यान करते हैं। संसारी और सिद्ध—ऐसे दो प्रकार के जीव हैं; उनमें से प्रथम २७ वीं गाथा में संसारी जीव के स्वरूप का वर्णन करते हैं और फिर २८ वीं गाथा में सिद्ध जीव के स्वरूप का वर्णन करेंगे।

गाथा - २७

जीव इति भवति चेतयितोपयोगविशेषितः प्रभुः कर्ता।
भोक्ता च देहमात्रो न हि मूर्तः कर्मसंयुक्तः॥२७॥

संसारी जीव का उपाधिसहित स्वरूप कैसा है और उपाधिरहित स्वरूप कैसा है—यह दोनों बातें आचार्यदेव समझायेंगे; अर्थात् निश्चय से और व्यवहार से दोनों प्रकार से वर्णन करेंगे।

संसार में स्थित आत्मा कैसा है 'जीव' है, 'चेतयिता' है, 'उपयोगलक्षित' है, 'प्रभु' है, 'कर्ता' है, 'भोक्ता' है, 'देहप्रमाण' है, 'अमूर्त' है, और 'कर्मसंयुक्त' है। इसप्रकार नौ विशेषणों से आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया है; उस प्रत्येक विशेषण में निश्चय और व्यवहार-ऐसे दो-दो प्रकार उतारकर आचार्यदेव समझायेंगे।

देखो, इस पंचास्तिकाय अथवा छह द्रव्य के वर्णन में जीवद्रव्य की ही मुख्यता है; अर्थात् पंचास्तिकाय को या छह द्रव्यों को जानकर शुद्ध जीवस्वभाव की ओर उन्मुख होना, वह मूल प्रयोजन है। मात्र छह द्रव्यों का ज्ञातृत्व वह मूल प्रयोजन नहीं है किन्तु छह द्रव्यों को जानकर उनमें से शुद्ध जीव को साधना-अनुभव करना, वह मूल प्रयोजन है। जो आसन्न भव्य जीव, सर्वज्ञ भगवान के कहे हुए जीवादि पदार्थों को जानकर, उनमें से शुद्ध जीवास्तिकायस्वरूप अपने आत्मा का स्वसंवेदन करके उसमें स्थिर होता है, वह जीव चारों गति का निवारण करके मोक्षदशारूप अनंत आत्मिक सुख को प्राप्त करता है।

छह द्रव्यों में जीवद्रव्य का स्वरूप कैसा है, उसका यहाँ वर्णन करते हैं। इसमें निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार से जीव का स्वरूप बतलाया है; तथा आत्मा के आस्रव-बंध का तथा संवर-निर्जरा-मोक्ष का भी वर्णन आ जाता है।

चैतन्यजीवन से जीनेवाला 'जीव'

''आत्मा निश्चय से भावप्राण के धारण के कारण 'जीव' है।'' आत्मा चैतन्यप्राण को धारण करके सदैव स्थित रहने के कारण—जीता होने के कारण 'जीव' है। चैतन्य, वह आत्मा का भावप्राण है और उसी से उसका जीवन है। ऐसे चैतन्यस्वरूप आत्मा का निर्णय करना, वह प्रथम सम्यग्ज्ञानरूप धर्म है।

धर्मी जानता है कि मेरे आत्मा में ज्ञान-दर्शन-सत्ता और सुख त्रिकाल हैं और वही मेरा जीवन है, वही मेरे यथार्थ प्राण हैं। इसके अलावा इस शरीर से, इन्द्रियों से या आयु आदि से आत्मा नहीं टिका रहता; वे तो समस्त आत्माओं को संयोगरूप हैं। आत्मा परवस्तु को धारण करे या परवस्तु के कारण स्वयं टिका रहे—ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। आत्मा त्रिकाल चैतन्य एवं सुख को धारण करके टिकनेवाला है। आत्मा के प्राण आत्मा से कभी पृथक् नहीं होते। जगत के समस्त जीव जहाँ अपने-अपने चैतन्यप्राण से ही सदैव जी रहे हैं, वहाँ कोई दूसरा उन्हें जिलाये या वे दूसरे को जिलायें—यह बात कहाँ रही? इस चैतन्यरूप भावप्राण से ही जीव जीता है—वह निश्चय है—यथार्थ स्वरूप है, और वह उपादेय है। इस भावप्राण का आत्मा को कभी वियोग नहीं होता; उसके द्वारा जीव को पहिचानना, सो यथार्थ पहिचान है।

अब निश्चय के साथ-साथ संयोग रूप व्यवहार का भी ज्ञान कराते हैं। निश्चय से तो चैतन्यरूप भावप्राण के धारण के कारण 'जीव' कहा; और व्यवहार से द्रव्यप्राण के धारण के कारण 'जीव' है। यह द्रव्यप्राण जड़ है; वह सचमुच आत्मा में नहीं है; तथापि उसका धारण कहना, सो असद्भूतव्यवहार है।

दस प्राण तो जड़ पुद्गलों से रचित हैं; उनके द्वारा जीना, वह कहीं आत्मा का सच्चा जीवन नहीं है; किन्तु संसारदशा में जीव को उन दस प्राणों का संयोग (अपनी-अपनी योग्यतानुसार) होता है। यदि उन प्राणों को ही जीव का स्वरूप मान ले तो उसे जीव के सच्चे स्वरूप की पहिचान नहीं होती। दस प्राणों का संयोग तो उपाधि है; उपाधि अर्थात् बाहर से आ जानेवाली; इन्द्रियाँ, शरीर आदि प्राण कहीं आत्मा के स्वरूप से रचित नहीं हैं किन्तु जड़ पुद्गलों से रचित हैं।

संसारदशा में ऐसे प्राणों का संयोग, इसलिये व्यवहार से ऐसा कहा गया है कि आत्मा ने उन प्राणों को धारण किया है। निश्चय से तो जीव चैतन्यप्राणों द्वारा ही त्रिकाल जीता है।

इसप्रकार 'जिये सो जीव,'—ऐसा कहकर जीव के निश्चय और व्यवहाररूप प्राणों का वर्णन किया। उसमें निश्चयरूप चैतन्यभाव प्राण है, वह जीव का यथार्थ स्वरूप होने से उपादेय है; और दस प्राण परमार्थतः जीव के स्वरूप से भिन्न होने के कारण वे आदरणीय नहीं हैं।

चित्स्वरूप होने से 'चेतयिता'

निश्चय से आत्मा स्वयं चित्स्वरूप होने से चेतयिता है; और व्यवहार से अर्थात् गुणगुणीभेद से वह चित्शक्तियुक्त होने से चेतयिता है।

'आत्मा स्वयं चित्स्वरूप है'—ऐसा अभेद जानना, सो निश्चय है; और आत्मा तथा चित्शक्ति को गुण-गुणीभेद से जानना, सो व्यवहार है। देखो, भीतर ही भीतर गुण-गुणी के बीच निश्चय-व्यवहार बतलाये; पर के सम्बन्ध की तो बात भी नहीं ली। निश्चय से आत्मा स्वयं ही चित्स्वरूप है, इसलिये चेतयिता है। और चैतन्यशक्ति द्वारा आत्मा चेतयिता है—इसप्रकार गुणगुणीभेद को लक्ष में लेना, सो व्यवहार है। अभेद के ज्ञानपूर्वक भेद को जानना, सो व्यवहार है। आत्मा रागस्वरूप या इन्द्रिय स्वरूप नहीं है, किन्तु स्वयं चित्स्वरूप होने से चेतयिता है; चैतन्य ही उसका स्वरूप है। ऐसा चैतन्यस्वरूप आत्मा उपादेय है और रागादि वे हेय हैं। चित्शक्ति तो आत्मा का वास्तविक स्वरूप है; आत्मा चैतन्यशक्ति सहित है—ऐसा गुणी और गुण के भेद से कहना, सो सद्भूत व्यवहार है। निश्चय से गुणगुणी भेद नहीं है, इसलिये आत्मा स्वयं चैतन्यशक्ति रूप है, इसलिये वह चेतयिता है।

इसप्रकार आत्मा को चेतयिता स्वरूप से जानना चाहिये। यह शरीर तो अचेतन है; उससे भिन्न अंतर में जो चेतनेवाला तत्त्व है, वह आत्मा है। देहादि मैं नहीं हूँ, रागादि भी मैं नहीं हूँ; मैं तो चेतयिता स्वरूप हूँ—इसप्रकार भेदज्ञान करके चेतयिता स्वरूप से अपने आत्मा का ग्रहण करना—वह तात्पर्य है।

'उपयोग लक्षण से लक्षित'

देखो, यह आत्मा कैसा है—उसकी पहिचान कराई जा रही है। पहले कहा कि वह जीव है; फिर कहा कि वह चेतयिता है; अब तीसरे बोल में कहते हैं कि वह उपयोग लक्षण से लक्षित है। उपयोग अर्थात् चैतन्य परिणाम; वह चैतन्यपरिणामस्वरूप उपयोग निश्चय से आत्मा के साथ

अभेद है; इसलिये निश्चय से अपने से अभिन्न ऐसे उपयोग द्वारा आत्मा लक्षित है। और व्यवहार से उपयोग में तथा आत्मा में लक्ष्य-लक्षण भेद है; आत्मा लक्ष्य है और उपयोग उसका लक्षण है; इसलिये व्यवहार से भेदरूप ऐसे उपयोग द्वारा लक्षित है। इसप्रकार निश्चय से या व्यवहार से भी आत्मा 'उपयोग-लक्षित' है; देह द्वारा या रागादि द्वारा वह लक्षित नहीं है।

आत्मा अपने चैतन्यपरिणामस्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होने से 'उपयोग लक्षण से लक्षित' है; यह चैतन्यपरिणामस्वरूप उपयोग निश्चय से आत्मा के साथ अपृथग्भूत है। उपयोग से अन्र्मुख होकर आत्मा को लक्ष में लिया, वहाँ उस उपयोग से लक्षित आत्मा और उसका उपयोग, यह दोनों अभेद हैं। इसप्रकार अभेद उपयोग से आत्मा को जाने, तब उसे जाना कहा जाता है। आत्मा शरीर से लक्षित नहीं है, राग से लक्षित नहीं है, अकेले पृथग्भूत उपयोग से भी लक्षित नहीं है किन्तु अभेद उपयोग द्वारा आत्मा लक्षित है। देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति का भाव आये, वहाँ उस भक्ति के राग द्वारा आत्मा लक्षित है—ऐसा नहीं होता; किन्तु अन्तर में आत्मा के साथ एकमेकरूप से वर्तता हुआ जो उपयोग, उसी के द्वारा आत्मा लक्षित होता है। इसप्रकार आत्मा 'उपयोग लक्षण से लक्षित' है। लक्ष्यरूप ऐसा आत्मा स्वयं भी उपयोगस्वरूप है और उसका लक्षण भी उपयोग है; उस उपयोग लक्षण द्वारा आत्मा लक्षित है।

निश्चय से यह उपयोग आत्मा के साथ अभेद है। व्यवहार से उपयोग परिणाम में और परिणामी आत्मा में भेद है। उपयोग को भेदरूप कहना, सो व्यवहार है, और उसे आत्मा के साथ अभेदरूप जानना, सो निश्चय है। ऐसे उपयोग द्वारा आत्मा लक्षित है; किन्तु परवस्तु तो आत्मा से सदैव पृथक् ही है; उससे तो आत्मा (निश्चय से या व्यवहार से भी) लक्षित नहीं होता। जीव को अपने गुण के साथ अभेद या भेद बतलाकर निश्चय-व्यवहार बतलाये, किन्तु पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसप्रकार 'जीव', 'चेतयिता' और 'उपयोग लक्षण से लक्षित'—ऐसे तीन बोलों से आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया, और उसमें निश्चय व्यवहार दोनों प्रकार बतलाये। वे संक्षेप में इसप्रकार हैं:—

(१) निश्चय से चैतन्यस्वरूप भावप्राण द्वारा सदैव जीता है, इसलिये 'जीव' है।

व्यवहार से दस प्रकार के द्रव्य प्राणों से जीता है, इसलिये जीव है।

(२) निश्चय से आत्मा स्वयं ही अभेदरूप चैतन्यस्वरूप होने से 'चेतयिता' है।

चैतन्यगुण द्वारा आत्मा चेतयिता है—ऐसा गुणगुणीभेद से जानना, सो व्यवहार है।

(३) निश्चय से आत्मा के साथ अभेदरूप ऐसे उपयोग द्वारा आत्मा लक्षित है।

व्यवहार से भेदरूप ऐसे उपयोग से लक्षित है। (उपयोग, वह परिणाम है और आत्मा परिणामी है;—ऐसे भेद, वह सद्भूत व्यवहार है।)

आत्मा 'प्रभु' है

अब चौथे बोल में कहते हैं कि आत्मा प्रभु है। आत्मा से अभिन्न परिणामरूप ऐसे जो भाव-आस्रव, बन्ध, संवर निर्जरा या मोक्ष—उन्हें करने में आत्मा स्वयं स्वतंत्र 'ईश' होने से 'प्रभु' है। देखो, यह आत्मा की स्वतंत्र प्रभुता! कोई दूसरा आत्मा को बलात् आस्रव-बन्ध कराये—ऐसी आत्मा की पराधीनता नहीं है; किन्तु आत्मा स्वयं उसरूप परिणमित होने में 'ईश' अर्थात् समर्थ होने से प्रभु है। आत्मा के परिणाम का प्रभुत्व किसी अन्य को नहीं है; आत्मा को स्वयं ही अपने परिणाम का प्रभुत्व है। देखो, भावबन्ध करने में भी आत्मा स्वयं स्वतंत्र होने से प्रभु है; किन्तु जड़कर्म का उदय आत्मा को पराधीन बनाकर भावबंधरूप से परिणमित करता है—ऐसा नहीं है। समय-समय के परिणमन में आत्मा स्वयं ही अपना प्रभु है। असंज्ञीपने में भी भावबन्धरूप से परिणमित होने में वह जीव स्वयं ही अपना 'प्रभु' है। विकारी पर्याय या निर्मल पर्याय दोनों में जीव स्वयं ही अपने परिणाम का स्वामी है; स्वयं ही अपने परिणाम को अपने स्वाधीन छह कारकों द्वारा करता है; इसलिये स्वयं अपना 'प्रभु' है।

बंधरूप से या मोक्षरूप से परिणमित होने में आत्मा स्वतंत्र है। कर्म का उदय जीव को भावबंधरूप से परिणमित करे—ऐसा नहीं है; किन्तु जीव अपनी विपरीतता से मिथ्यात्वादि भावबंधरूप से स्वयं ही परिणमित होता है; उस विपरीतता में भी वह 'प्रभु' है।

संवर-निर्जरा-मोक्षरूप जो निर्मल परिणाम, उन्हें करने में भी आत्मा स्वयं समर्थ होने से 'प्रभु' है। संवर-निर्जरा-मोक्ष, वह आत्मा का निर्मल 'भावकर्म' (कार्य) है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो धर्म कार्य, उसे करने में भी आत्मा स्वयं समर्थ होने से वह 'प्रभु' है। देखो, इसप्रकार आत्मा की प्रभुता को जाने, तब छह द्रव्यों में से जीवद्रव्य को जाना कहा जाता है।

धर्म का कार्य करने में (संवर-निर्जरारूप से परिणमित होने में) आत्मा को किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता पड़े—ऐसा आत्मा पराधीन-पामर नहीं है; किन्तु अन्य किसी की सहायता के बिना स्वयं संवर-निर्जरारूप से परिणमित होने के स्वाधीन सामर्थ्य वाला 'प्रभु' है।

अज्ञानी कहते हैं कि—'सिद्ध-भगवान को रागद्वेष-मिथ्यात्वरूप परिणमन इसलिये नहीं होता कि उन्हें वैसे परद्रव्य का निमित्त ही नहीं है'—इसप्रकार वे आत्मा को मोक्षदशा में भी पराधीन मानते हैं; उनकी दृष्टि ही पराधीन है। और यहाँ तो आचार्यभगवान स्पष्ट कहते हैं कि मोक्षरूप से परिणमित होने में आत्मा स्वयं स्वाधीन होने के कारण 'प्रभु' है। स्वयं अपनी प्रभुता से—स्वाधीनरूप से मोक्षरूप परिणमित होता है और रागादिरूप से परिणमित नहीं होता।—ऐसा जीव का स्वरूप है।

अहा, देखो तो सही, कितना स्पष्ट कथन है!! भावकर्मों के आस्रव-बंधरूप से या संवर-निर्जरा-मोक्षरूप से परिणमित होने में आत्मा स्वयं ईश अथात् समर्थ होने से वह 'प्रभु' है। आत्मा की प्रभुता ऐसी है कि अन्य कोई उसके परिणमन में हस्तक्षेप नहीं कर सकता।—ऐसा जो जीव जाने, उसका झुकाव ऐसे प्रभुस्वभावी आत्मा की ओर होता है; इसलिये उसका अपना परिणमन आस्रव-बंध से छूटता जाता है और संवर-निर्जरा-मोक्ष की ओर बढ़ता जाता है। आस्रव-बंध और संवर-निर्जरा-मोक्ष—इन समस्त भावोंरूप से परिणमित होने की अपनी स्वतंत्रता का जिसे यथार्थ निर्णय हो जाये, वह जीव मात्र आस्रव-बंधरूप से ही परिणमित होता रहे और संवर-निर्जरारूप से किंचित् भी परिणमित न हो—ऐसा कभी नहीं हो सकता। जीवस्वभाव की ओर उन्मुख होने पर ही, अर्थात् स्वयं के संवर-निर्जरारूप परिणमित होने तथा आस्रवबंध से विमुख होने पर ही आत्मा के प्रभुत्व आदि का यथार्थ निर्णय होता है, और तभी पंचास्तिकाय, छहद्रव्य, सात तत्त्व तथा नव पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है;—यह मूलभूत महत्त्व का सिद्धान्त है।

छह द्रव्यों में से यह जीवद्रव्य का वर्णन हो रहा है। 'आत्मा प्रभु है'—उसका अर्थ चल रहा है। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ऐसे पाँच प्रकार का जो भावकर्म है, उसे करने में आत्मा स्वयं स्वतंत्र शक्तिमान होने से वह प्रभु है। अपनी मलिन या निर्मल पर्यायरूप भावकर्म का कर्ता आत्मा निश्चय से है, और अपने मिथ्यात्वादि या सम्यक्त्वादि भावों को करने में वह स्वतंत्र है। (सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों को भी भावकर्म कहा जाता है।)

सम्यग्दर्शन के बाद भी जो अव्रतादि के भाव हैं, वे कहीं कर्म की बलजबरी से नहीं हुए; किंतु आत्मा ने स्वयं उन्हें किया है। विकार करने और विकार टालने में आत्मा की ही प्रभुता है; दोनों में आत्मा स्वयं स्वतंत्ररूप से कर्ता है।

देखो, 'रागादिरूप से परिणमित होने में भी आत्मा स्वयं स्वतंत्र प्रभु है'—ऐसा कहा;

उसका यह अर्थ नहीं है कि राग क्रमबद्धपर्याय में भले ही होता रहे!—अरे भाई! क्या आत्मा की प्रभुता मात्र विकार में ही परिणमित होने की कही है?—या विकार और अविकार दोनों में परिणमित होने की आत्मा की प्रभुता कही है?—विकार और अविकार दोनों में परिणमित होने की मेरे आत्मा की प्रभुता है—ऐसा जो निर्णय करे, वह 'प्रभु' होकर निर्मलरूप से परिणमित होगा, विकाररूप अल्पपरिणमन की रुचि उसे नहीं होगी। एकान्त आस्रव-बन्धरूप मलिनभाव से परिणमित हो, उसने आत्मा की प्रभुता को जाना ही नहीं।—इसप्रकार अन्तर्मुख स्वभाव की ओर उन्मुख होकर निर्मल पर्याय के कर्तारूप से परिणमित हुआ, वहाँ प्रभुता का भान हुआ कि अहो! इन सम्यग्दर्शनादि पर्यायोंरूप परिणमित होने में ही मेरी प्रभुता है; अपनी पर्याय को करने में मैं ही समर्थ हूँ और मलिन पर्याय करने में भी मैं ही स्वतंत्ररूप से कर्ता था।

रत्नत्रय लक्षणवाले जो संवर-निर्जराभाव हैं, उन्हें करने में भी आत्मा स्वयं स्वतंत्र होने से वह प्रभु है। ऐसे संवर-निर्जरारूप भावों के धारक, वे गुरु हैं और मात्र आस्रव-बन्धरूप भावों को करनेवाले कुगुरु हैं; वे भी अपने मिथ्यात्वादि भावों को करने स्वतंत्र होने से 'प्रभु' हैं। मिथ्यात्वादि तो जीव का मलिन भावकर्म है और सम्यक्त्वादि, वह जीव का निर्मल भावकर्म है; उन मलिन या निर्मल दोनों भावकर्मों को करने में स्वतंत्ररूप से स्वयं समर्थ होने के कारण आत्मा प्रभु है।

मोक्ष भी आत्मा का परमशुद्ध भावकर्म है और उस मोक्ष को करने में आत्मा स्वयं समर्थ होने से प्रभु है। देखो, यह वस्तुस्वभाव! केवलज्ञान-केवलदर्शन-अनन्त सुख और अनन्त वीर्य स्वरूप जो भावमोक्ष—उसे प्रगट करने में यह आत्मा स्वयं समर्थ होने से प्रभु है। क्या वज्रकाय शरीर कहीं केवलज्ञान प्रगट कर देने में समर्थ है?—नहीं; उस समय आत्मा स्वयं प्रभु होकर उस भावमोक्षरूप पर्याय को उत्पन्न करता है। ऐसा निर्णय न करे, तब तक छह द्रव्यों में से जीवतत्त्व को जाना नहीं कहा जाता।

''परद्रव्य द्वारा आत्मा बन्धरूप से परिणमित किया जाता है''—ऐसा कहा, वहाँ तो उस बन्धरूप परिणमित होने का आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है; इसलिये स्वभाव के आश्रय से आत्मा को बन्धरूप परिणमन नहीं होता, किन्तु परसंग करने से ही बन्धरूप परिणमन होता है—ऐसा बतलाने के लिये निमित्त से कहा है कि परसंग द्वारा आत्मा, बन्धरूप से परिणमित किया जाता है; किन्तु वास्तव में आत्मा स्वतंत्ररूप से कर्ता होकर अपनी भावबन्धरूप या मोक्षरूप पर्याय को स्वयं

ही करता है, इसलिये प्रभु है। विपरीतता में भी प्रभु है, स्वाभाविकता में भी स्वतंत्र प्रभु है;—ऐसा निर्णय करे, उसे आस्रव-बन्धरूप परिणमन दूर होकर संवर-निर्जरा-मोक्षरूप परिणमन हुए बिना नहीं रहता।

आत्मा स्वयं अपनी पर्याय का प्रभु है। यदि कोई दूसरा उसका कर्ता हो तो एक पर्याय के दो प्रभु हो जायें! जिसप्रकार किसी काँच की बरनी के लिये दो आदमियों में झगड़ा हो जाये-एक कहे मेरी और दूसरा कहे मेरी —वहाँ कोई बरनी को फोड़कर एक-एक टुकड़ा दोनों को दे दे!—उसीप्रकार क्या यहाँ भी एक पर्याय के दो भाग करके आधा भाग आत्मा का और आधा कर्म का—ऐसा हो सकता है?—नहीं; आत्मा अकेला ही स्वतंत्ररूप से अपनी पर्याय का कर्ता है। इसप्रकार निश्चय से आत्मा अपने भावकर्मरूप आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा और मोक्ष का स्वतंत्र सामर्थ्य द्वारा कर्ता होने से प्रभु है। इसप्रकार निश्चय से प्रभुता बतलाई। अब, संसारी जीव को व्यवहार भी है, वह बतलाते हैं—

''व्यवहार से द्रव्यकर्मों के आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष करने में स्वयं ईश होने से 'प्रभु' है।'' द्रव्यकर्मों का आत्मा में अभाव होने से वे 'असद्भूत' हैं, और आत्मा के भावकर्म वे द्रव्यकर्मों के निमित्त होने से उनका कर्ता कहना, वह 'व्यवहार' है। देखो, आत्मा के पुरुषार्थ का निमित्त पाकर कर्मों में भी उस-उस प्रकार से संवर-निर्जरादि रूप परिणमन होता है; इसप्रकार व्यवहार से कर्मों पर आत्मा की प्रभुता है। यहाँ आत्मा भावसंवररूप से परिणमित हो और सामने निमित्तरूप द्रव्यकर्म का संवर न हो—ऐसा नहीं हो सकता। व्यवहार में ऐसा नहीं कहा कि आत्मा पर कर्म की प्रभुता है; परन्तु कर्म पर आत्मा की प्रभुता है—ऐसा कहा है।

देखो, यह जीव की स्वतंत्र प्रभुता!

उपादानरूप से आत्मा अपने परिणामों को करने में प्रभु है, और निमित्तरूप से कर्मों के आस्रव-बन्ध या संवर-निर्जरा को करने में स्वतंत्र होने से प्रभु है। इसप्रकार उपादान-निमित्त की संधि भी बतलाई। आत्मा स्वयं प्रभु होकर, स्वपुरुषार्थ द्वारा सम्यग्दर्शनादिरूप से परिणमित हो और वहाँ निमित्तरूप मिथ्यात्वादि कर्म दूर न हों—ऐसा नहीं हो सकता। निश्चय से जड़ की अवस्था का कर्ता जड़ स्वयं है, किन्तु आत्मा का भाव उसमें निमित्त होने के कारण व्यवहार से कर्मों का आस्रव-बन्ध या संवर-निर्जरा करने में आत्मा 'प्रभु' है—ऐसा कहा है।

पुद्गल कर्म नहीं आये, वह तो उन पुद्गलों की स्वतंत्र पर्याय है; किन्तु आत्मा स्वयं जहाँ

भावसंवररूप से परिणमित हुआ, वहाँ द्रव्यकर्मों का आस्रव होता ही नहीं—ऐसा सम्बन्ध होने से आत्मा ने द्रव्यकर्मों का संवर किया—ऐसा भी कहा जाता है। कर्मरूप से पुद्गल परिणमित ही नहीं हुए—इसप्रकार उस अभाव में यहाँ जीव के संवरभाव को निमित्त कहा है। संवर में तो कर्मरूप परिणमन का अभाव है, उसमें जीव का भावसंवर निमित्त है। और निर्जरा में सामने कर्म के उदय का अस्तित्व होने पर भी उसकी निर्जरा मानकर जीव की भावनिर्जरा को उसका निमित्त कहा है; और निमित्त की अपेक्षा से जीव को द्रव्यनिर्जरा का कर्ता कहा है।

इसप्रकार 'मोक्ष' में भी जो द्रव्यकर्मों का अभाव हुआ, उसमें जीव के भावमोक्ष को निमित्त मानकर जीव को उस द्रव्यमोक्ष का भी कर्ता कहा है।

—इसप्रकार स्वाधीनरूप से जीव अपने भाव में आस्रव-बन्ध, संवर-निर्जरा या मोक्षरूप से परिणमन करने में समर्थ होने से प्रभु है; और निमित्तरूप से कर्मों के आस्रव-बन्ध, संवर-निर्जरा या मोक्ष करने में समर्थ होने से प्रभु है।—ऐसी आत्मा की प्रभुता जानना।

समयसार की सातवीं शक्ति में आत्मा के जिस प्रभुत्व का वर्णन किया है, वह तो निर्मल पर्याय में अखण्ड स्वतंत्रता से शोभायमानपना होने से प्रभुत्व कहा है; उसमें तो निर्मलता की ही बात है; उस प्रभुत्व में विकार नहीं आता। और यहाँ तो मलिन या निर्मल—दोनों पर्यायों में आत्मा स्वयं स्वतंत्ररूप से—अपने छह कारकों से ही परिणमित होने में समर्थ होने के कारण उसे प्रभु कहा है। ऐसी प्रभुता का निर्णय करे, उसे भी निर्मल पर्यायरूप प्रभुत्व प्रगट हुए बिना नहीं रहता।

सर्वज्ञ भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं, उनमें से यह जीवद्रव्य का वर्णन चल रहा है। जीव कैसा है ?

(१) निश्चय से अपने चैतन्य प्राण द्वारा जीता है, इसलिये 'जीव' है।

(२) निश्चय से स्वयं ही चैतन्यस्वरूप होने से 'चेतयिता' है।

(३) आत्मा से अभेदस्वरूप जो उपयोग, उसके द्वारा लक्षित होने से 'उपयोग लक्षित' है।

इन तीनों बोलों के साथ उसका व्यवहार भी बतलाया। अब चौथे बोल में आत्मा को 'प्रभु' कहा है, उसका यह वर्णन चल रहा है।

अपनी-अपनी पर्यायों को करने में प्रत्येक द्रव्य स्वयं समर्थ होने से प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना 'प्रभु' है। अपनी विकारी या अविकारी पर्यायों को करने में आत्मा स्वयं समर्थ होने से वह 'प्रभु' है। जड़ की अवस्थाओं को करने में जड़ स्वयं समर्थ होने से वह भी उनका 'प्रभु' है। जड़

की अवस्थाओं का स्वामी जड़ है; वह 'जड़ेश्वर' है। आत्मा चैतन्य-ईश्वर है; उनमें से यहाँ आत्मा की ईश्वरता का-प्रभुता का वर्णन चलता है।

आस्रव-बन्ध, संवर-निर्जरा और मोक्षरूप अपने भावों को स्वयं ही छह कारकरूप होकर करता है, इसलिये आत्मा प्रभु है। और आत्मा के भाव का निमित्त पाकर जड़कर्म में उस-उस प्रकार से आस्रव-बन्ध या संवर-निर्जरा-मोक्षरूप अवस्था होती है, उसका व्यवहार से कर्ता होने के कारण आत्मा प्रभु है। निश्चय से तो कर्म की अवस्था को करने में पुद्गल ही समर्थ हैं, इसलिये पुद्गल की अवस्था का 'प्रभु' पुद्गल ही है; किन्तु आत्मा का भाव उसमें निमित्त होने से, आत्मा को उसका प्रभु कहना वह व्यवहार से है। वह व्यवहार इतना सम्बन्ध बतलाता है कि जीव के भाव के अनुसार ही कर्म में आस्रव-बन्ध या संवर-निर्जरा-मोक्षरूप परिणमन होता है।

जीव-अजीवद्रव्य स्वयं-स्वतंत्ररूप से अपनी-अपनी पर्याय में अपनी-अपनी प्रभुता से परिणमित हो रहे हैं। दो द्रव्य (आत्मा और कर्म) मिलकर यदि विकार करें तो उस विकार का फल भी दोनों को भोगना पड़े—ऐसा प्रसंग आयेगा; किन्तु यह बात सिद्धान्त विरुद्ध है। (देखो, समयसार गाथा ३३०)। अज्ञानी कहता है कि—जिसप्रकार दुकान में दो भागीदार हों और उनमें से एक भागीदार दुकान पर बैठकर व्यापार करे तो उसका फल—(नफा या नुकसान) दोनों को आता है; उसीप्रकार आत्मा और शरीर दोनों सम्मिलित हैं, इसलिये शरीर की क्रिया का फल आत्मा को भोगना पड़ता है।—अरे! यह कैसा स्थूल अज्ञान है! आचार्य भगवान स्पष्ट कहते हैं कि यह दो द्रव्य मिलकर क्रिया करते ही नहीं; दोनों की स्वतंत्र क्रिया होती है; आत्मा अपने भाव को करता है और अपने भाव का फल भोगता है; शरीर की क्रिया का फल कहीं आत्मा नहीं भोगता। अपने भाव को करने में आत्मा प्रभु है। यदि जड़ की क्रिया का फल आत्मा में आये तो आत्मा की प्रभुता नहीं रही; इसलिये निश्चय से ऐसा जानना चाहिये कि आत्मा स्वयं ही अपने बंध-मोक्षरूप भाव का स्वयं कर्ता होने से प्रभु है; और उस समय उस भाव का निमित्त पाकर कर्म की बंध-मोक्षरूप पर्यायें होती हैं, उन्हें करने में व्यवहार से समर्थ होने के कारण 'प्रभु' है।

—इसप्रकार आत्मा 'प्रभु' है।

सर्वज्ञ भगवान के देखे हुए जीवद्रव्य का व्याख्यान चल रहा है—जीव, चेतयिता, उपयोगलक्षण से लक्षित और प्रभु—ऐसे चार बोलों का व्याख्यान हुआ। अब कहते हैं कि आत्मा कर्ता है।

आत्मा 'कर्ता' है।

आत्मा को निश्चय से अपने आत्मपरिणामों का कर्तृत्व होने से आत्मा कर्ता है। आत्मपरिणाम कैसे ? कि पुद्गल-कर्म जिनका निमित्त हैं ऐसे। यहाँ ससारी जीव की अपेक्षा से वर्णन होने से कर्म के साथ के निमित्त सम्बन्ध का भी ज्ञान कराया है।

यहाँ, ''पुद्गल कर्म जिनका निमित्त हैं ऐसे आत्मपरिणाम''—ऐसा कहने से उनमें अकेले विकारी आत्मपरिणाम नहीं लेना चाहिये, किन्तु संवर-निर्जरा या मोक्षरूप निर्मल आत्मपरिणाम भी लेना चाहिये; क्योंकि उनमें भी कर्म का अभाव निमित्त है। इसप्रकार कर्म का सद्भाव या कर्म का अभाव जिनका निमित्त है—ऐसे आस्रव-बन्धरूप या संवर-निर्जरा-मोक्षरूप अपने परिणामों का कर्ता आत्मा निश्चय से है। यहाँ दृष्टि के शुद्ध विषय का वर्णन नहीं है, किन्तु प्रमाण के विषयरूप आत्मा का वर्णन है, इसलिये आत्मा को विकारी परिणाम का कर्ता भी निश्चय से कहा है। ''स्व सो निश्चय और पर सो व्यवहार''—यह व्याख्या यहाँ लागू होती है। शुद्ध दृष्टि की अपेक्षा से तो आत्मा विकार का कर्ता है ही नहीं।

निश्चय से आत्मा अपने परिणाम का कर्ता है—ऐसा कहा; अब व्यवहार बतलाते हैं—आत्मा के उस-उस प्रकार के परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गलकर्म में भी वैसी-वैसी अवस्था होती है, अर्थात् आत्मा के विकारी भावों के निमित्त से कर्म-आस्रव-बंध होते हैं और आत्मा के निर्विकारी भावों के निमित्त से कर्म के संवर-निर्जरा या मोक्ष होते हैं—इसप्रकार आत्मा के परिणाम जिनका निमित्त हैं—ऐसे पुद्गलकर्मों का व्यवहार से (अर्थात् निमित्त अपेक्षा से) आत्मा कर्ता है। आत्मा रत्नत्रयरूप संवरभावरूप से परिणमित हो और सामने कर्म का संवर न हो—ऐसा नहीं हो सकता। इसप्रकार आत्मा के परिणाम का और नवीन कर्म का निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से, व्यवहार से आत्मा, पुद्गलकर्म का कर्ता है। पुद्गलकर्म परद्रव्य होने से यह व्यवहार 'असद्भूत' है। अब भोक्तापना कहते हैं।

आत्मा 'भोक्ता' है।

निश्चय से शुभाशुभकर्म जिनका निमित्त हैं—ऐसे सुख-दुःख परिणामों का भोक्तृत्व होने से आत्मा भोक्ता है; और व्यवहार से, शुभाशुभकर्मों से प्राप्त इष्टानिष्ट विषयों का भोक्तृत्व होने से आत्मा भोक्ता है। सचमुच कहीं आत्मा बाह्य संयोगों का उपभोग नहीं करता, किन्तु संसारदशा में उसे उसप्रकार का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने के कारण व्यवहार से बाह्य विषयों का भोक्ता

कहा है। सुख-दु:खरूप अपने भाव का भोक्ता तो निश्चय से है और बाह्य संयोगों का भोक्ता कहना, वह व्यवहार से है।

यह संसारी आत्मा की बात है। संसारी आत्मा शुभ-अशुभकर्म के निमित्त से होनेवाले अपने सुख-दु:ख परिणामों का भोक्ता निश्चय से है और शुभ-अशुभकर्म से प्राप्त बाह्य इष्ट-अनिष्ट विषयों का भोक्ता व्यवहार से है।

देखो, जीव को हर्ष-शोक या सुख-दु:खरूप जो परिणाम होते हैं, उनमें तो मोहनीयकर्म का उदय निमित्त है; तथापि यहाँ 'शुभ-अशुभ कर्म' को उनका निमित्त माना है। साता-असाता के निमित्त से जो बाह्य सामग्री प्राप्त हुई, उसका भोक्ता आत्मा व्यवहार से है। वेदनीयकर्म का फल सुख-दु:ख का वेदन है—ऐसा शास्त्रों में आता है; वहाँ वास्तव में जो सुख-दु:खरूप परिणाम होते हैं, उनमें तो मोहकर्म निमित्त है, किन्तु वेदन की अपेक्षा से उसमें वेदनीय को निमित्त कहा है। 'धवला' में भी श्री वीरसेनस्वामी ने साता-असाता वेदनीय को जीव-विपाकी तथा पुद्गलविपाकी —दोनों में गिना जाता है। सुख-दु:ख के वेदन में निमित्त की अपेक्षा से तो उसे जीव विपाकी कहा है और बाह्य सामग्री के संयोग के निमित्त की अपेक्षा से उसे पुद्गल विपाकी कहा है।

सुख-दु:ख की बाह्य सामग्री का मिलना, वह शुभ-अशुभकर्म के उदय से है; उस सामग्री का भोक्ता आत्मा को कहना, वह व्यवहार से है। अपने स्वपरिणाम का उपभोग निश्चय से है और पर का भोक्ता कहना, वह असद्भुत व्यवहार से है। जीव को अपने सुख-दु:खपरिणाम के उपभोग में वह (बाह्य-संयोग) निमित्त होने से व्यवहार से उसका भी भोक्तृत्व कहा है।—इसप्रकार आत्मा भोक्ता है।

आत्मा निश्चय से लोकप्रमाण; व्यवहार से देहप्रमाण

आत्मा निश्चय से लोकप्रमाण असंख्य प्रदेशी है; किन्तु विशिष्ट अवगाह परिणामशक्ति से युक्त होने के कारण छोटे-बड़े शरीरप्रमाण रहता है; इसलिये व्यवहार से देहमात्र है। नामकर्म के निमित्त से छोटे-बड़े अनेक आकार के शरीरों की रचना होती है; उस शरीरों के आकारप्रमाण आत्मप्रदेशों का आकार होता है; वह कोई भी आकार नित्य एकरूप नहीं रहता, इसलिये देहमात्रपना व्यवहार से कहा है। चाहे जिस देह के आकार के समय भी आत्मा के प्रदेश लोक प्रमाण असंख्यात ही रहते हैं; इसलिये असंख्य प्रदेशी आकारपना, वह निश्चय है। सर्वज्ञदेव के जैन शासन के सिवा आत्मा का ऐसा असंख्यप्रदेशीपना अन्य कोई यथार्थरूप न तो जान सकता है और न कह सकता है।

निश्चय से आत्मा अमूर्त है

असद्भूत व्यवहार से आत्मा को मूर्त कर्म के साथ एकत्व परिणाम होने से आत्मा मूर्त है; किन्तु निश्चय से तो आत्मा स्वयं अरूपी स्वभाव होने से अमूर्त है। कर्म के सम्बन्ध की अपेक्षा से देखने पर मूर्त कहा, वह असद्भूतव्यवहार से है। निश्चय से स्व-अपेक्षा से देखने पर आत्मा अमूर्त ही है। संसारदशा में भी आत्मा सचमुच अमूर्त ही है।

कर्म के सम्बन्धवाला जीव का भाव अवधिज्ञान का विषय होता है; और अवधिज्ञान का विषय तो 'मूर्त' है; इसलिये कर्मसम्बन्धवाले जीवभाव को भी उपचार से मूर्त कहा जाता है। वास्तव में तो अमूर्त आत्मा त्रिकाल अमूर्त ही है; कर्मसम्बन्ध के समय भी आत्मा तो अमूर्त ही है; किन्तु कर्मसम्बन्ध के कारण उपचार से मूर्त कहा जाता है।

आत्मा कर्म संयुक्त है

संसारी जीव की अपेक्षा से यह वर्णन है। शुद्ध-निश्चय से तो आत्मा का स्वभाव कर्म से असंयुक्त है; वह तो शुद्ध दृष्टि का विषय है; यहाँ प्रमाण के विषय का वर्णन है; इसलिये पर्याय में भावकर्म और द्रव्यकर्म का जो सम्बन्ध है, उसका ज्ञान कराया है।

निश्चय से आत्मा अपने चैतन्यपरिणामस्वरूप भावकर्म से संयुक्त है; और व्यवहार से चैतन्यपरिणाम के अनुरूप ऐसे पुद्गलपरिणामस्वरूप कर्म से संयुक्त है। आत्मा के विकारी परिणाम पुराने पुद्गलकर्म के अनुरूप हैं, और पुद्गल में नवीन कर्म होते हैं, वे जीव के विकारी परिणाम के अनुरूप हैं।—इसप्रकार संसारी जीव को कर्मसंयुक्तपना है। 'भावकर्म से संयुक्त' वह भी निश्चय से कहा है, क्योंकि वह स्वपरिणाम होने से निश्चय है, और पुद्गलकर्म पर है, तथापि उससे संयुक्त कहना, वह व्यवहार है।

जीव त्रिकाल अपने परिणाम से संयुक्त ही होता है; परिणामरहित वह कभी होता ही नहीं। जैसे शुद्ध या अशुद्ध परिणामरूप से वह परिणमित होता है, वही परिणाम उसका कर्म है और उस कर्म से वह संयुक्त है। संसारदशा में कर्म के अनुरूप ऐसे अपने विकारी भावरूप कर्म से संयुक्त है; अर्थात् वह विकारीभाव भी जीव का अपना है, इसलिये निश्चय से जीव उस भावकर्मसहित है; और विकारी भाव के निमित्त से जो कर्म बंधते हैं, उन कर्मों से संयुक्त व्यवहार से है। पर्याय में कर्मों के साथ इतना सम्बन्ध है—ऐसा जानता हुआ धर्मी जीव अपने अबंधस्वभावी आत्मा के अनुभव द्वारा कर्मों के सम्बन्ध को जानता है किन्तु कर्मों के साथ के सम्बन्ध को ही जाने और अबंध

स्वभावी आत्मा को न जाने तो आत्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं होता—इसप्रकार प्रत्येक बोल में यथायोग्य समझ लेना।

इसप्रकार जीव, चेतयिता, उपयोग लक्षण से लक्षित, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, देहप्रमाण, अमूर्त और कर्मसंयुक्त—ऐसे नौ बोलों से इस २७ वीं गाथा में संसारी आत्मा के स्वरूप का व्याख्यान किया। अब २८ वीं गाथा में मुक्तस्वरूप सिद्ध आत्मा का वर्णन करेंगे।

शुद्ध रत्नत्रय की भेंट

'नियम-सार' अर्थात् शुद्ध रत्नत्रय। श्री पद्मप्रभ मुनिराज कहते हैं कि यह 'नियमसार' अर्थात् शुद्ध रत्नत्रय का स्वरूप भव्य जीवों को मोक्ष के हेतु कहा जाता है। इसलिये श्रोताओं को भी उसी का लक्ष रहना चाहिये कि—अहा! हमारे जैसे मोक्षार्थी भव्य जीवों को शुद्धरत्नत्रय की प्राप्ति के लिये श्री मुनिराज इस नियमसार की रचना करते हैं—मानों इस नियमसार के द्वारा वे हमें शुद्ध रत्नत्रय की ही भेंट दे रहे हैं। अहा, जीव आत्मार्थी होकर मुनियों के इस कथन को अंतर में उतारे तो उसे ज्ञात हो जाय—निर्णय हो जाय—कि बस! ऐसे अन्तर्मुख भावस्वरूप ही मोक्षमार्ग होता है; इसके अतिरिक्त अन्य कोई मोक्षमार्ग हो ही नहीं सकता। संतों ने मोक्षमार्ग को एकदम स्पष्ट करके खोल दिया है।

[—प्रवचन से]

सच्चे सुख के लिये सीधा मार्ग (-यथार्थ उपाय)

प्रकाशनेवाले

तत्त्वज्ञान के लिये सुरुचिपूर्ण ग्रन्थ

१. सम्यग्दर्शन—(-दूसरी आवृत्ति)

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है जो अपना असली स्वरूप-स्वाधीनसुख और उसका सच्चा उपाय समझने में स्वच्छ दर्पण समान है इस बात को अच्छे ढंग से शास्त्राधार सहित बताया है, जैन धर्म में ही सच्चा विश्व दर्शन क्यों है। सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों को वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध करके स्वतंत्र वस्तुस्वभाव समझने की अनेक बात स्पष्ट करने में आई है। आद्योपांत पढ़े बिना उसका महत्व ख्याल में नहीं आता। पृष्ठ सं० २६६ मूल्य १.६३।

२. लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका—

जो गाइड है—जैन तत्त्वज्ञान में सुगम शैली द्वारा प्रवेश पाने के लिये शास्त्राधार सहित सुगम और प्रयोजनभूत प्रश्नोत्तर हैं, सभी में प्रचार होने योग्य है। थोक लेने पर कमीशन देंगे। पृष्ठ संख्या १०५ मूल्य ०.१९ नये पैसे।

३. श्री जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह—

जो भक्ति पूजा और तीर्थयात्रा के समय जिनेन्द्रों की बड़ी-बड़ी पूजा के लिये उपयोगी पुस्तक है। जिसमें भारतवर्ष के प्रायः सब जैन तीर्थक्षेत्र तथा अतिशय क्षेत्रों में पूजा के समय जो प्राचीन पूजायें चल रही हैं, वे हैं, और यात्रियों के लिये तीर्थक्षेत्रों के विषय में प्रयोजनभूत जानकारी और कहाँ से कहाँ जाना-आना इत्यादि वर्णन तथा क्षेत्रों का परिचय होने से पुस्तक अति उपयोगी है। बहुत अच्छे कागज पर सुन्दर ढंग से बड़े टाइप में छपी है, बढ़िया कपड़े की जिल्द पत्र सं० ३०० मूल्य १.४५। १० पुस्तक एक साथ लेने पर कमीशन देंगे।

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) दूसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकान्त पूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ने योग्य है, पत्र सं० ९०० करीब मूल्य लागत मात्र ५), पोस्टेज आदि अलग। पचास ग्रन्थ मँगानेवालों को दस टका कमीशन; सौ पुस्तक में बीस टीका कमीशन और १० पुस्तक से कम मँगाने पर कमीशन नहीं देंगे।

पता:—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

छप गया!! शीघ्र ही मँगाइये!! छप गया!!!

श्री पंचास्तिकाय शास्त्र

श्रीमत्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत

जो सर्व प्रकार उत्तम और संशोधित व संस्कृत टीका सहित है।

मूल्य ४॥)

पता - (१) श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
(२) श्री महेन्द्रकुमार सेठी
ठि० ६२ धनजी स्ट्रीट, मुंबई नं० ३

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	सम्यग्दर्शन	१ ॥=
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	समयसार पद्यानुवाद	।)
प्रवचनसार	५)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
अष्टपाहुड़	३)	स्तोत्रत्रयी	॥)
चिद्विलास	१=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
आत्मावलोकन	१)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
द्वितीय भाग	२)	शासन प्रभाव	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)		
द्वितीय भाग	॥–)		
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।